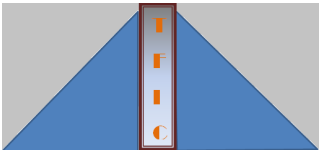

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

४०६७
क्रम संख्या
काल नं० २८१.२ (महावीर) सुधा
खण्ड

परम ज्योति महावीर

[करुण, धर्मवीर एवं शान्त रस प्रधान महाकाव्य]

रचयिता

धन्यकुमार जैन 'सुधेश'

नागौद (म० प्र०)

(सर्वाधिकार लेखकाधीन)

प्रकाशक—

श्री फूलचंद जवरचंद गोधा जैन ग्रंथमाला

८, सर हुकमचंद मार्ग

इन्दौर नगर

प्रथम संस्करण १२०० | जून सन् १९६१ | मूल्य ७)

दी इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड
जीरोरोड, इलाहाबाद ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

जैन समाचार पत्रों में श्री कविवर 'सुधेश' की अप्रकाशित नवीन रचना 'परम ज्योति महावीर' नामक महाकाव्य के समाचार पढ़कर हमने 'सुधेश' जी को लिखा कि क्या वे अपने महाकाव्य को इन्दौर की किसी ग्रन्थमाला की ओर से प्रकाशित कराना चाहते हैं ? उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और बड़े ही निस्पृह भाव से अपनी महाकृति देखने भेज दी। मैंने और श्री जवरचंद फूलचंद गोधा जैन ग्रन्थमाला इन्दौर के ट्रष्टी श्री जैन रत्न सेठ गुलाब चंद जी टोंग्या और श्री सेठ देव कुमार सिंह जी कासलीवाल एम० ए० ने उक्त महाकाव्य को पढ़ा। ग्रन्थमाला के अध्यक्ष श्री सेठ फूलचंद जी गोधा की सम्मति से ट्रष्ट कमेटी की बैठक बुलाकर उक्त रचना प्रकाशित करना निश्चित कर लिया गया और छपाने का सब भार 'सुधेश' जी ने अपने ऊपर ले लिया। आज यह महत्व पूर्ण कृति पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है।

'परम ज्योति महावीर' वास्तव में महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के लक्षण और गुण तो पाये ही जाते हैं, पर अभी तक भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी जो ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं, उनमें यह अपना अपूर्व और विशिष्ट स्थान रखता है। 'सुधेश' जी ने इसे गम्भीर और खोज पूर्ण अध्ययन करके लिखा है। इसकी रचना शैली और नैसर्गिक कवित्व से आकृष्ट होकर ही यह शीघ्र प्रकाशित किया गया है।

भगवान महावीर के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष इन पाँचों कल्याणकों का क्रमशः घटना रूप में विवेचन करते हुये कवि ने नगर,

महाराज, महारानी, प्रजा, ऋतु आदि का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। संवाद एवं कथोप कथन भी रोचक और मनोवैज्ञानिक हैं। तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुये कवि पर देश के आधुनिक वातावरण का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

ग्रन्थमाला की ओर से पहले स्व० मा० दरयाव सिंह जी सोधिया द्वारा लिखित 'श्रावक धर्म संग्रह' का दूसरा संस्करण और आचार्य दुर्ग देव कृत 'रिष्ट समुच्चय' का प्रो० नेमिचंद जी एम० ए० ज्योतिषाचार्य आरा द्वारा लिखित हिन्दी अनुवाद तथा सितम्बर १९५९ में श्री ज्ञान चंद्र जी 'स्वतन्त्र' सूरत की 'हम कैसे सुधरें ?' पुस्तिका प्रकाशित हो चुकी है। इनमें प्रथम ग्रन्थ में श्रावक धर्म का सांगोपाँग वर्णन है। जिसे सोधिया जी ने गृहस्थ धर्म सम्बन्धी अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय कर लिखा है। दूसरे ग्रन्थ 'रिष्ट समुच्चय' में मरण संबन्धी शकुन व सूचनाएँ हैं, जो मरण की जानकारी और समाधि मरण के लिये उपयोगी हैं। तीसरी में नैतिक जीवन के सुधार की प्रेरणात्मक घटनाएँ हैं।

ग्रन्थ माला से इन तीनों ग्रन्थों के पहिले आचार्य योगीन्द्र देव की प्राकृत रचना 'आत्म दर्शन' का नाथूराम जी द्वारा रचित पद्यानुवाद और 'परमात्म छत्तीसी, लघु रचना प्रकाशित की गयी थी।

ग्रन्थ माला का उद्देश्य जैन धर्म के सिद्धान्तों का देश विदेश में प्रचार एवं प्रसार करना है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्तों को जानकर जनता सुख और शान्ति का अनुभव कर सके ऐसी सरल और आधुनिक शैली में लिखी गयी पुस्तकें हम चाहते हैं और चाहते हैं अभी तक प्रकाश में नहीं आया साहित्य, जो जैन वाङ मय का गौरव बढ़ाये। वर्तमान में आत्मबोध और नैतिक

होती। भगवान उसकी सारी बात सुनकर कहते हैं—"जब तक हरिकेश के साथ आसन बदल कर श्रेणिक निम्न आसन पर नहीं बैठते उन्हें कैसे गूढ़ ज्ञान प्राप्त हो सकता है?" राजा जब चांडाल मुनि को आदर देता है तभी उसकी विद्या पूरी होती है।

भगवान बुद्ध ने बहुत सोच विचार के बाद महा प्रजापति गौतमी को प्रव्रज्या दी थी किन्तु भगवान महावीर ने सहज भाव से अपने चतुर्विधि संघ में स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया। भगवान जब कौशाम्बी जाते हैं तो उनका हृदय कारागृह में पड़ी, बेड़ियों से जकड़ी, सिर मुड़ी हुई कौशाम्बी के नगर श्रेष्ठ की दासी चन्दन बाला के दुःख से द्रवित हो उठता है। भगवान कई दिनों तक कौशाम्बी में भिक्षा ग्रहण नहीं करते और जब करते हैं तो दासी चन्दन बाला के हाथों से। यही दासी भगवान महावीर की प्रथम शिष्या और उनके भिक्षुणी संघ की प्रथम अधिष्ठात्री बनी। (चुलवग्ग) प्रस्तुत काव्य ग्रन्थ में चन्दन बाला के प्रसंग का मार्मिक वर्णन कवि ने किया है।

भगवान महावीर के राजशिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म की शिक्षा का विधिवत् प्रचार करने के लिये अपने धर्म दूत यूनानी सम्राट अन्तिओकस, मिस्र के सम्राट टालेमी, मैसिडोन के राजा अन्तिगोनस साइरीन सम्राट मारगस और एपिरो नरेश अलेक्जेंडर के पास भेजे। मिस्र की राजधानी काहिरा से एक हजार मील दूर रेगिस्तान के बीच में बसे हुये नगर साइरीज में भी जैन धर्म के प्रचारक पहुँचे।

भगवान महावीर मानव भावनाओं से परिपूर्ण मानव धर्म के महान प्रचारक थे जिनके जीवन और जिनकी शिक्षा के ऐतिहासिक महत्व के आगे उनका पौराणिक महत्व अधिक मूल्य नहीं रखता। आज का युद्ध सन्तप्त मानव, संसार के कल्याण के लिये, भगवान महावीर की शिक्षाओं की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है क्योंकि उन्हीं शिक्षाओं

में विश्व कल्याण निहित है । इसीलिये आज भगवान महावीर के जीवन और उनकी शिक्षाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का महत्व बढ़ गया है ।

हमें विश्वास है कवि का यह श्रेष्ठ प्रयत्न, भगवान महावीर का पावन जीवन प्रसंग हमारे हृदयों में वह प्रेरणा पैदा करेगा जिससे हम आज के युग में लोक-कल्याण की भावना से भगवान के सच्चे अनुयायी होने का दावा पेश कर सकें ।

आजाद स्क्वायर, विश्वम्भरनाथ पांडे
इलाहाबाद,
१५-५-१९६१

शुभाशीर्वाद एवं सन्देश

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी (सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक जैन सन्त)

आपकी प्रतिभा का हमें छात्रावस्था से ही परिचय है, आपने कवित्व में अच्छी विशेषता का परिचय दिया है। आपकी आत्मा उन्नत पद को प्राप्त हो, यही शुभ आशीर्वाद है।

शांतिनिकेतन, ईसरी — गणेशवर्णी
१६-५-६०

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद जी (राष्ट्रपति भारत)

आपके प्रयास की सफलता के लिए राष्ट्रपति जी अपनी शुभ कामनाएँ भेजते हैं।

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली-४ — राजेन्द्रलाल हांडा
१५-७-६० — (राष्ट्रपति जी के प्रेस सचिव)

श्री सर राधाकृष्णन् (उपराष्ट्रपति भारत)

I am glad to know that you are bringing out a book called "Paramjyoti Mahavir" I wish your endeavours success.

New Delhi — S. Radhakrishnan
June 4. 1960

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आप "परम ज्योति महावीर" नामक पुस्तक प्रकाश में ला रहे हैं। मैं आपके सत्प्रयत्न की सफलता चाहता हूँ।

नई दिल्ली — सर राधाकृष्णन्

४-६-४०

श्री अजित प्रसाद जी जैन(भूतपूर्व खाद्य मंत्री भारत)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तीर्थंकर महावीर की जीवनी पर आपने "परम ज्योति महावीर" नामक एक महाकाव्य की रचना की है। भगवान महावीर के अहिंसा के महान उद्देश्य को लोग कुछ भूले जा रहे थे। महात्मा गाँधी ने पुनः उसे जीवित किया और उसी के साथ जन-साधारण के मन में भगवान महावीर के प्रति और भी श्रद्धा बढ़ी। कविता की रचना करके आपने देश की बड़ी सेवा की है और इसके लिए मेर धन्यवाद स्वीकार कीजिये।

नई दिल्ली — अजितप्रसाद जैन

१६-७-६०

श्री रा'ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त (सदस्य राज्य सभा)

भगवान महावीर पर आपने काव्य रचना की है, यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ, आशा है उसका प्रकाशन फल प्रद होगा।

मेरी शुभकामना स्वीकार कीजिये।

८-६-६० — मैथिलीशरण

श्री मिश्री लाल जी गंगवाल(वित्त मंत्री मध्यप्रदेश)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने तीर्थंकर महावीर पर "परम ज्योति महावीर" महाकाव्य दो हजार पाँच सौ उन्नीस छन्दों में पूर्ण कर

लिया है। काव्य की रूप-रेखा देखने के पश्चात् ही मैं सन्देश के रूप में विशेष कुछ कह सकूँगा। वैसे मेरा आशीर्वाद तथा शुभ सन्देश इस प्रकाशन के लिये है ही।

आपके इस पुण्य प्रयास के लिये बधाई।

पँचमढ़ी — मिश्रीलाल गंगवाल

७-६-६०

श्री दशरथ जी जैन(उपमन्त्री लोक निर्माण एवं विद्युत मध्यप्रदेश)

आपका महाकाव्य "परम ज्योति महावीर" प्रकाशित होने जा रहा है यह जानकर प्रसन्नता हुई। यह महाकाव्य भगवान महावीर के विषय में जन साधारण को न केवल पर्याप्त जानकारी ही देगा प्रत्युत उसको पढ़कर लोगों के जीवन में एक महान क्रान्ति आवेगी वे सत्य और अहिंसा के अपने आपको अधिक निकट पावेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

भोपाल — दशरथ जैन

२०-५-१९६०

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन कलकत्ता(सुप्रसिद्ध उद्योगपति)

भगवान महावीर के सम्बन्ध में आपने चिन्तन किया है और उनका गुणानुवाद गाया है यह अपने आपमें भव्य प्रयत्न है।

कलकत्ता — शान्तिप्रसाद जैन

२९-५-६०

श्री कैप्टेन सर सेठ भागचंद जी सोनी (अध्यक्ष भा० दि० जैन महासभा)

श्री धन्यकुमार जी जैन 'सुधेश' ने हाल ही में "परम ज्योति महावीर" नामका भगवान महावीर के ऊपर एक सुन्दर काव्य लिखा है जो कि शीघ्र ही छपने जा रहा है।

श्री 'सुधेश' जी की कविताएँ जैन पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी प्रतिभा से उनकी कविता को पढ़ने वाले प्रभावित हुये बिना नहीं रहते। ये जैन समाज के उदीयमान कवि हैं।

मैं उनके इस सुन्दर प्रयास की सराहना करता हूँ और आशा करता हूँ कि उनकी यह रचना सभी के हृदयों में भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का संचार करेगी।

अजमेर — भागचन्द

१६-६-६०

श्री यशपाल जी जैन (सम्पादक 'जीवन साहित्य')

मैं "परम ज्योति" महाकाव्य का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ। मुझे विश्वास है कि पाठकों को उसके द्वारा स्वस्थ एवं उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी। वस्तुतः ऐसी कृतियों की आज बड़ी आवश्यकता है जो चरित्र-निर्माण की प्रेरणा दे सकें। आपका महाकाव्य इस उद्देश्य की पूर्त्ति करेगा।

नई दिल्ली — यशपाल जैन

१६-६-६०

श्री कामता प्रसाद जी जैन (संचालक अखिल विश्व जैन मिशन)

यह जाकर परम हर्ष है कि भाई सुधेश जी का महा काव्य प्रकाशित हो रहा है। सुधेश जी की कवि रूप में ख्याति उनकी जन्म जात काव्य प्रतिभा का प्रमाण मात्र है। तीर्थंकर सदृश महापुरुष के विशाल जीवन को शब्दों में उतार लाना मनीषियों का ही काम है। उनका काव्य संसार के कोने-कोने में ज्ञान ज्योति का दिव्य प्रकाश फैलाये यही कामना है।

अलीगंज (उ० प्र०) — कामता प्रसाद

१-८-६०

श्री विदुषीरत्न ब्र० पण्डिता चन्दाबाई जैन (संचालिका जैन बाला विश्राम आरा)

"परम ज्योति महावीर" नामक महाकाव्य की रचना का आयोजन जानकर प्रसन्नता हुई श्री अन्तिम तीर्थंकर महावीर प्रभु की दिव्य ज्योति ही आज इस पंचम काल में जैन धर्म को प्रकाश प्रदान कर रही हैं एवं उनकी दिव्य वाणी ही जैनों के जैनत्व को कायम रख रही है। इन महाप्रभु के चरित्र को पद्यमय रचकर अलंकृत करने का प्रयास श्री 'सुधेश' जी का सफल हो और यह रचना स्वाध्याय प्रेमियों के लिये व्यवहार तथा निश्चय दोनों दृष्टिकोणों से मोक्ष मार्ग दर्शाने में समर्थ हो।

धर्मकुञ्ज, आरा — चन्दाबाई
१२-६-६०

श्री पं० जगमोहन लाल जी शास्त्री (प्रधान मंत्री भा० दि० जैन संघ)

हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने इस युग के महान ऐतिहासिक और धर्मतीर्थ प्रवृत्ति के संचालन करनेवाले भगवान महावीर स्वामी के सम्बन्ध में एक महाकाव्य का निर्माण किया है जो कि महा-काव्य के समस्त लक्षणों और अंगों से परिपूर्ण तथा सर्वाङ्ग उपयोगी है। इस काव्य का निर्माण कर आपने एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की है। आपका प्रयास आपके कवि जीवन को सफल बनाने का महान् प्रयास है हमें विश्वास है आपकी सरल-सरस और सुन्दर काव्य रचना भगवान महावीर के पवित्र जीवन चरित्र के आश्रय को पाकर जनता के हृदय में धर्म सुधा का सिंचन करेगी। भावी युग में धार्मिक एवं नैतिक चरित्र को आगे बढ़ाने में यह एक बहुत बड़ा प्रयास सिद्ध होगा।

कटनी — जगमोहनलाल शास्त्री
२०-५-६०

श्री पं० पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य (मंत्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्)

आप सुकवि हैं, आपके द्वारा लिखित "परम ज्योति महावीर" साहित्यिक क्षेत्र में अच्छा आदर प्राप्त करेगा।

सागर
२०-५-६०

पन्नालाल

❀

समर्पण

करुण, धर्मवीर एवं शान्तरस प्रधान

यह महाकाव्य

समर्पित

है

उन्हें

जो किसी भी दुखी को देख करुणा से द्रवीभूत हो उठते हैं,
जो मानव-धर्म पालने में ही जीवन की सार्थकता अनुभव
करते हैं,
और
जो केवल व्यक्तिगत ही नहीं समाष्टिगत शान्ति के लिये
भी प्रयत्नशील रहते हैं।

कृति की कथा

माध्यमिक शाला में अध्ययन करते समय ही काव्यानुरक्ति की बेलि मेरे हृदय में अंकुरित हो उठी थी, फलतः सरस काव्यों का रसास्वादन एवं उनके गुण दोषों का विवेचन मेरा दैनिक व्यसन सा बन चला। यह व्यसन केवल यहीं तक सीमित नहीं रहा, अपितु काव्य रचना का रोग भी बाल्यावस्था से ही लग गया।

हिन्दी साहित्य के पाठ्य ग्रन्थों के रूप में जब श्री राष्ट्र कवि मैथिली शरण जी गुप्त का 'साकेत' तथा महा कवि श्री जयशंकर प्रसाद जी की 'कामायनी' आदि हिन्दी के ख्याति प्राप्त महाकाव्य पढ़ने को मिले, तब उनकी महत्ता से प्रभावित मेरे हृदय में यह भावना जागृत हुई कि जैन धर्म के चरम तीर्थंकर परम ज्योति महावीर के सम्बन्ध में भी एक ऐसा महाकाव्य अविलम्ब रचा जाना चाहिये, जिसमें उनके जीवन से सम्बन्धित समस्त घटनाओं के साथ तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी यथा स्थान चित्रण हो, जिसको पढ़कर पाठक का हृदय करुण, धर्मवीर एवं शान्त रस की त्रिवेणी में अवगाहन कर पावन हो उठे। जिसमें केवल कवित्व का प्रदर्शन, प्रतिभा का चमत्कार एवं बुद्धि का व्यायाम ही न हो, अपितु चरित्र नायक द्वारा प्रतिपादित तत्वों एवं दर्शन का भी यथा स्थान विवेचन हो। इसके साथ ही सर्वत्र जैन धर्म की मौलिक मान्यताओं की सुरक्षा का भी पूर्ण ध्यान रखा जाये।

उक्त विशेषताओं से युक्त महाकाव्य की आवश्यकता केवल मैंने ही अनुभव की हो, ऐसी बात नहीं। मुझ जैसे अनेक परम ज्योति

महावीर के श्रद्धालु काव्यानुरागियों को यह अभाव खटकता रहा है। कुछ कर्मठ कवि इस अभाव की पूर्ति का प्रयास भी कर रहे थे। मेरा भावुक कवि-हृदय भी उन्हीं दिनों ऐसा महाकाव्य लिखने को ललचा उठा था, पर तब मेरी काव्य साधना घुटनों के बल चलना ही जानती थी। इस हिमालय के शिखर तक पहुँच सकना उसके सामर्थ्य के बाहर था। अतः मन की साध मन में लिये ही रह जाना पड़ा।

आज से १४ वर्ष पूर्व मैंने ललितपुर के सहृदय कवि श्री हरिप्रसाद जी 'हरि' से इस विषय में लिखे जाने वाले महाकाव्य के कुछ छन्द सुने थे और तब उन्हें सुनकर मुझे आशा हो गयी थी कि उक्त अभाव की पूर्ति अविलम्ब होने जा रही है, पर दीर्घ समय तक श्री 'हरि' जी के महाकाव्य के पूर्ण होने के समाचार प्राप्त नहीं हुये, यह देखकर आशा की वह सुकोमल लता मुरझा चली।

जुलाई, सन् १९५१ में भारतीय ज्ञान पीठ काशी से श्री 'अनूप' जी शर्मा का 'वर्द्धमान' महाकाव्य प्रकाशित हुआ। जब उसका विज्ञापन समाचार पत्रों में देखा तो मन मयूर हर्षावेग में नृत्य कर उठा। मैंने वह ग्रन्थ मँगाकर आद्योपान्त ध्यान पूर्वक पढ़ा। पढ़ने पर प्रसन्नता संकुचित हो गयी, इसका कारण यह था कि मैंने अपने मास्तिष्क में श्री महावीर सम्बन्धी महाकाव्य का जो रेखा चित्र खींचा था, उसके दर्शन इस १९९७ छन्दों के विशाल महाकाव्य में भी नहीं हुये।

इसमें सन्देह नहीं कि श्री 'अनूप' जी शर्मा ने इस महाकाव्य के प्रणयन में यथा शक्ति परिश्रम किया था और उनका यह साहस केवल प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी था। फिर भी कुछ ऐसे कारण इस महाकाव्य में विद्यमान थे, जिससे उसकी उपयोगिता

उतनी अधिक नहीं मानी जा सकी जितनी मानी जानी चाहिये। इसमें महावीर सम्बन्धी घटनाओं का क्रमवार इतिहास भी देखने को नहीं मिलता, जिसकी आवश्यकता सर्वोपरि थी। इसके अतिरिक्त इसकी रचना के लिये श्री 'अनूप' जी ने संस्कृत वृत्त को अपनाया इसमें अन्त्यानुप्रास का सर्वथा अभाव होने के कारण प्रवाह भी उतना नहीं आ पाया जितना आना चाहिये था। ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया गया है, जिससे रचना के प्रसाद एवं माधुर्य गुण को बाधा पहुँची है एवं श्रमसाध्य होने पर भी उक्त महाकाव्य साधारण पाठक के लिये रूचि पूर्वक पठनीय नहीं रह गया। कवि के ब्राह्मण होने के कारण अनायास ही ब्राह्मणत्व की कुछ ऐसी मान्यताएँ भी उक्त महाकाव्य में आ गयीं है जो जैन सिद्धान्तों के विपरीत हैं। यह सब होते हुये भी मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि श्री 'अनूप' जी ने तीर्थंकर वर्द्धमान पर महाकाव्य रचकर अपनी लेखनी को पावन किया है। केवल यही नहीं, अपितु भावी कवियों के लिये उन्होंने एक रुद्ध मार्ग का उद्घाटन कर दिया है। मुझे स्वयं श्री 'अनूप' जी के महाकाव्य से इस महाकाव्य को लिखने की प्रेरणा मिली है और एतदर्थ उनका आभार स्वीकार करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

जब 'वर्द्धमान' महाकाव्य को मैंने भावना के अनुरूप नहीं पाया, तब मैंने आवश्यक शक्ति और साधनों का अभाव रहते हुये भी इस साहित्यिक अनुष्ठान को सम्पन्न करने की भावना की और 'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार भाद्रपद शुक्ला अष्टमी वीर निर्वाण संवत् २४८० (वि० सं० २०११) तदनुसार ५ सितम्बर, सन् १९५४ को महाकाव्य लिखने का संकल्प कर शुभारम्भ कर दिया।

ग्रन्थ का शुभारम्भ मैंने जिस उल्लास के साथ किया, वह उल्लास अबाध रूप से अपने संकल्प को मूर्त्तिमान करने में निरन्तर सक्रिय

नहीं रह पाया। श्रेयांसि बहु विघ्नानि, के अनुसार अनेक विघ्न आते गये, अतः इच्छा रहते हुये भी मैं अपने इस उद्देश्य की पूर्ति उतने शीघ्र नहीं कर पाया जितने शीघ्र हो सकती थी (Better late than never) के अनुसार विलम्ब से ही सही चैत्र कृष्णा दशमी वीर निर्वाण संवत् २४८६ (वि० सं० २०१६) तदनुसार २२ मार्च, १९६० को अपना यह मनोरथ मूर्तिमान कर मैंने अपने में एक अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव किया।

शुभारम्भ के दिन से लेकर परिसमाप्ति तक की अवधि यद्यपि ५ वर्ष ६ मास १७ दिन होती है, पर इस दीर्घ अवधि में प्रस्तावना तथा २३ सर्ग क्रमशः ४+२३+१७+१०+१६+१३+६+७+५+४+४+४+२+८+५+५+५+४+४+४+८+४+४+६=१७२ दिनों अर्थात् ५ मास २२ दिनों में लिखे गये हैं। इस प्रकार ५ वर्ष २५ दिन ऐसे रहे जिनमें एक भी छन्द नहीं लिखा गया। यों रचना के दिनों का औसत ११.६१ प्रतिशत रहा।

यह महाकाव्य वीर निर्वाण संवत् २४८६ में परिपूर्ण किया गया है अतएव इसमें वन्दना के २ तथा तेईस सर्गों के १०८-१०८ छन्द इस प्रकार छन्द संख्या (२३×१०८+२=) २४८६ रखी गयी है, जो इस बात की सूचिका है कि जिस समय यह महाकाव्य पूर्ण किया गया, उस समय परम ज्योति महावीर का निर्वाण हुये २४८६ वर्ष हो चुके थे। इन २४८६ छन्दों के अतिरिक्त ३३ छन्दों की प्रस्तावना पृथक् से है, यों कुल मिलाकर २४८६+३३=२५१९ छन्द हैं।

मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, इन तीन पूर्वक से मन, वचन, कर्म इन तीन की सहायता से कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन रूप अर्थात्

४×३×३×३=१०८ प्रकार से पाप किया करता है, अतएव पाप के इन १०८ प्रकारों से बचने के लिये जप की माला में १०८ दाने रखे जाते हैं। इसी उद्देश्य से इस महाकाव्य में भी प्रत्येक सर्ग में १०८ छन्द रखे गये हैं।

सर्गों की संख्या इस महाकाव्य में २३ रखी गयी है, जो इस बात की सूचिका है कि जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर नहीं थे, अपितु इनके पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे, जिन्होंने अपने अपने समय में जैन धर्म का प्रचार किया था।

काल दोष से परम ज्योति महावीर के अनुयायी दो भागों में विभक्त हो गये, १—दिगम्बर और २—श्वेताम्बर। इस विभाजन के कारण जैन धर्म को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं, परस्पर के संघर्ष में दोनों की शक्तियों का तो अपव्यय हुआ ही, पर इससे वीर-वाणी के यथार्थ रूप पर भी कुठाराघात हुआ, जिससे साहित्य में भी यत्र तत्र परस्पर विरोधी कथनों का समावेश हो गया। ऐसी स्थिति में तथ्य के निर्णय हेतु दोनों सम्प्रदायों के कथनों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक हो गया। इन समस्त विवाद ग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखने से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच जायेगा, अतएव इस विषय में मौन रहना ही ठीक समझा है, पर इस प्रसंग में इतना लिख देना आवश्यक समझता हूँ कि इस कृति को यथा सम्भव प्रामाणिक और उपयोगी बनाने की भावना से मैंने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के उन सभी ग्रन्थों का गम्भीरता पूर्वक मनन किया है जो मुझे उपलब्ध हो सके हैं। एवं दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मुझे जो कुछ सत्, शिव, सुन्दर प्राप्त हुआ है, उससे इस महाकाव्य को अलंकृत करने का प्रयत्न किया है। इसमें कोई भी बात पक्ष मोह या ईर्ष्या की भावना से नहीं लिखी गयी, अतः इस सम्बन्ध में पूर्ण सावधान रहने पर भी यदि कहीं कोई दोष निष्पक्ष विद्वानों को

दृष्टि गोचर हो तो उसे सूचित करने का कष्ट करें। आगामी संस्करण में उसे दूर करने का प्रयास किया जायेगा।

यद्यपि कृति में प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं का समावेश करने का प्रयास किया गया है, तदपि ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने के भय से अनेक प्रसङ्गों को संक्षेप रूप में ही लिखना पड़ा है।

यह ग्रन्थ केवल काव्य मर्मज्ञों के ही पठन की वस्तु न बन जाये, अतः ग्रन्थ में सर्वाधिक प्रचलित छन्द का ही प्रयोग किया गया है। जिससे कि सभी पाठक सुचारु रूप से प्रवाह के साथ इसे पढ़ सकें। जिस प्रकार हमें परम ज्योति महावीर के जीवन में सर्वत्र एक ही रूप वीतरागता के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार इस महाकाव्य में भी सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक छन्द प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त हो यह दृष्टि आद्योपान्त रहने के कारण सरल, सुबोध और सर्व प्रचलित शब्दावली हो उपयोग में लायी गयी है। फिर भी प्रसगवश अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ा है। अतएव ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट संख्या १ में २८६ शब्दों का एक संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द कोष भी दे दिया है। इससे सर्व साधारण भी महाकाव्य पढ़ते समय उन पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में साधारण जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इसके निर्माण में 'वृहत् हिन्दी कोष' और 'वृहत् जैन शब्दार्णव' से सहायता प्राप्त हुई है, अतः मैं उक्त दोनों शब्द कोषों के विद्वान सम्पादकों का आभारी हूँ।

परम ज्योति 'महावीर' के विहारस्थलों का परिचय देने की दृष्टि से परिशिष्ट संख्या २ में ६२ विहारस्थलों का एक संक्षिप्त विहारस्थल नाम कोष भी दे दिया है। इसके निर्माण में 'श्रमण महावीर, पुस्तक से सहायता मिली है अतः इसके लेखक पं० कल्याण विजय जी गणी का भी आभार स्वीकार करता हूँ।

विषय-क्रम

विषय		पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना	...	३६
वन्दना	...	४६
पहला सर्ग		
१—भारत भव्यता	...	५३
२—विदेह विभव	...	५५
३—कुण्डग्राम—गरिमा	...	५७
४—सिद्धार्थ-शासन	...	५८
५—त्रिशला देवी	...	६४
६—दाम्पत्य-दिव्यता	...	७०
दूसरा सर्ग		
१—स्वर्ग-व्यवस्था	...	७७
२—अमरेन्द्र आज्ञा	...	८१
३—अलकेश-प्रयाण	...	८५
४—रत्न वृष्टि	...	८६
५—राज दम्पति का राग	...	९२
६—अच्युतेन्द्र-अवतरण		९५
७—त्रिशला-निद्रा	...	९७
तीसरा सर्ग		
१—निशीथ-तम	...	१०१
२—षोड़श स्वप्न		१०५

३—गर्भागम ... १११
४—प्रभात-प्रकाश ... ११२
५—त्रिशला-जागृति ... ११५
६—दासियों का अनुरोध ... ११६
७—त्रिशला का सामायिक ... ११८
८—शरीर-सज्जा ... १२१

चौथा सर्ग

१—सिद्धार्थ-सभा ... १२५
२—स्वप्न कथन ... १२७
३—फल-श्रवण ... १३०
४—छप्पन दिक्कुमारियाँ ... १३७
५—त्रिशला-सेवा ... १४०

पाँचवाँ सर्ग

१—शरद-शोभा ... १४६
२—सिद्धार्थ-स्वागत ... १५१
३—सिद्धार्थ-सम्बोधन ... १५१
४—त्रिशला के तर्क ... १५६
५—शयन ... १६२
६—गर्भ गौरव ... १६४
७—हेमन्त ... १६६
८—विशेष-व्यवस्था ... १६८

छठा सर्ग

१—प्रकाशोदय ... १७३
२—प्रश्नोत्तर ... १७७

३--त्रिशला की धार्मिकता ... १८२
४—वसन्त-विभव ... १८३
५--जिनेन्द्र-जन्म ... १८६
६—प्रकृति पर प्रभाव ... १८६
७—दासियों द्वारा बधाई ... १६१
८—सिद्धार्थ सौख्य ... १६२

सातवाँ सर्ग

१--नगर सज्जा ... १६७
२—उत्सव-व्यवस्था ... १६८
३—सिद्धार्थ-औदार्य ... २००
४—उत्सव-आरम्भ ... २०२
५--सङ्गीत-प्रभाव ... २०३
६--अन्य आयोजन ... २०५
७--धार्मिक समारोह ... २०६
८--अमरेन्द्र आगमन ... २०७
६—जिनेन्द्र दर्शन ... २०६
१०—अभिषेकार्थ गमन ... २१०
११—अभिषेक ... २१३
१२—इन्द्राणी कृत शृङ्गार ... २१५
१३—इन्द्रकृत संस्तुति ... २१६
१४—प्रत्यागमन ... २१७

आठवाँ सर्ग

१—नाटकारम्भ ... २२१
२--अभिषेकोत्सव दृश्य ... २२३
३--पूर्वभव ... २२४

४—ताण्डव–नृत्य ... २२८
५—नृत्य–प्रभाव ... २२६
६—शिशु–सौन्दर्य ... २३२
७—नामकरण ... २३५
८—सुत–संवर्धन ... २३६
९—वर्धमान का विवेक ... २३८
१०—दर्शन–प्रभाव ... २४१

नवाँ सर्ग

१—इन्द्र–सभा ... २४५
२—देव–परीक्षा ... २४५
३—बाल मित्रों का भय ... २४६
४—सन्मति का साहस ... २४८
५—महावीर नामकरण ... २५०
६—निरंकुश गज ... २५२
७—गज–क्रोध ... २५३
८—वीर की विजय ... २५५
९—बुद्धि वैशिष्ट्य ... २५६
१०—यौवन–आरम्भ ... २५९
११—एकान्त–चिन्तन ... २६०

दसवाँ सर्ग

१—मातृ–ममता ... २६९
२—वीर-विरक्ति ... २७१
३—त्रिशला का प्रस्ताव ... २७३
४—विवाहार्थ-प्रेरणा ... २७५
५—वीर की दृढ़ता ... २८१

६—मातृ-प्रति उत्तर ... २८२
७—उद्देश्य सूचना ... २८४
८—क्षमा याचना ... २८८

ग्यारहवाँ सर्ग

१—वीर का ब्रह्मचर्य ... २६३
२—सिद्धार्थ-प्रस्ताव ... २६६
३—राज्यहेतु अनुरोध ... २६७
४—वीर की अस्वीकृति ... ३०४
५—शासन-स्वरूप ... ३०७
६—वैराग्य-वृद्धि ... ३१२

बारहवाँ सर्ग

१—पूर्वभव स्मरण ... ३१७
२—अतीत का सिंहावलोकन ... ३१८
३—अनुप्रेक्षा-चिन्तन ... ३२१
४—अनुमति-याचना ... ३२६
५—सिद्धार्थ-सम्बोधन ... ३३१
६—वीर का उत्तर ... ३३१
७—पुनः सिद्धार्थ के तर्क ... ३३४
८—वीर द्वारा समाधान ... ३३५
६—त्रिशला का प्रयास ... ३३६
१०—वीर की अटलता ... ३३७

तेरहवाँ सर्ग

१—वीर का वैराग्य ... ३४१
२—सर्वस्वदान ... ३४२

३—लौकान्तिक-देव-आगमन ... ३४३
४—वैराग्य-प्रशंसा ... ३४३
५—वासना पर विजय ... ३४६
६—वैभव त्याग ... ३५१
७—अन्य परिग्रह त्याग ... ३५३
८—विरागता ... ३५३
९—वन-गमन ... ३५५
१०—जगल में मङ्गल ... ३५७
११—दीक्षा ... ३५९

चौदहवाँ सर्ग

१—ध्यान ... ३६५
२—निडरता ... ३६६
३—निर्मोह ... ३६८
४—प्रथम पारणा ... ३६९
५—समरसता ... ३७२
६—गोप का कोप ... ३७४
७—उपसर्ग पर विजय ... ३७५
८—पहला चतुर्मास ... ३७६
९—आत्म साधना ... ३७७
१०—दृष्टिविष विषधर ... ३७८
११—वीर की एकाग्रता ... ३७९
१२—नाग का कोप त्याग ... ३८२
१३—चरण रेखा की महिमा ... ३८३

पन्द्रहवाँ सर्ग

१—दूसरा चतुर्मास ... ३८९

२—गोशालक पर प्रभाव	...	३८६
३—नालन्दा से विहार	...	३६१
४—भविष्य कथन	...	३६४
५—भ्रमण	...	३६५
६—तीसरा चतुर्मास	...	३६७
७—चौथा चतुर्मास	...	३६८
८—अग्नि-उत्पात	...	३६६
६—स्वयमेव शमन	...	४०१
१०—राढ़भूमि की ओर विहार	...	४०३
११—पाँचवाँ चतुर्मास	...	४०४
१२—तप-प्रभाव	...	४०४
१३—छठा चतुर्मास	...	४०७
१४—सातवाँ चतुर्मास	...	४०८
१५—आँठवाँ चतुर्मास	...	४०६
१६—नवाँ चतुर्मास	...	४१०

सोलहवाँ सर्ग

१—सिद्धार्थपुर से विहार	...	४१३
२—तिल-स्तुप-प्रसङ्ग	...	४१३
३—कैवल्य-साधना	...	४१६
४—दसवाँ चतुर्मास	...	४१७
५—देव कृत परीक्षा	...	४२०
६—वीर का धैर्य	...	४२१
७—देव का सन्तोष	...	४२२
८—देवाङ्गनाओं का प्रयास	...	४२७
६—राग प्रदर्शन	...	४२८

१०—अन्य उपाय ... ४२६
११—पूर्ण असफलता ... ४३१
१२—ग्यारहवाँ चतुर्मास ... ४३४

सत्रहवाँ सर्ग

१—वीर का उपवास ... ४३७
२—श्रेष्ठि प्रमुख की निराशा ... ४३६
३—वीर का अभिग्रह ... ४३६
४—रानी मृगावती की चिन्ता ... ४४१
५—प्रयत्नों की विफलता ... ४४४
६—चन्दना से सेठानी की ईर्ष्या ... ४४५
७—चन्दना द्वारा आहार दान ... ४४७
८—चन्दना और मृगावती का मिलन ... ४४६
६—चन्दना-प्रशंसा ... ४५१
१०—बारहवाँ चतुर्मास ... ४५२
११—ग्वाले की अधमता ... ४५२
१२—ऋजुकूला-तट ... ४५४
१३—कैवल्य प्राप्ति ... ४५५

अठारहवाँ सर्ग

१—सोमिलाचार्य का यज्ञ ... ४६१
२—ग्यारह विद्वान ... ४६१
३—परिचय ... ४६३
४—इन्द्र का छल ... ४६५
५—इन्द्रभूति पर प्रतिबन्ध ... ४६७
६—इन्द्रभूति का समवशरण में प्रवेश ... ४६६
७—मण्डप की मनोरमता ... ४७१

८—अंकित श्रेष्ठि का परिचय ... ४७२
९—इन्द्रभूति का निवेदन ... ४७५
१०—जीव तत्व निरूपण ... ४७६
११—इन्द्रभूति की दीक्षा ... ४८१

उन्नीसवाँ सर्ग

१—अग्निभूति का आगमन ... ४८५
२—अग्निभूति की शङ्का ... ४८७
३—वीर कृत समाधान ... ४८८
४—अग्निभूति की दीक्षा ... ४८८
५—वायुभूति की शङ्का ... ४८९
६—वायुभूति की दीक्षा ... ४९१
७—आर्यव्यक्त की शङ्का ... ४९२
८—आर्यव्यक्त की दीक्षा ... ४९३
९—सुधर्म की शङ्का ... ४९४
१०—सुधर्म की दीक्षा ... ४९७
११—मण्डिक की शङ्का ... ४९८
१२—मण्डिक की दीक्षा ... ५००
१३—मौर्यपुत्र की शङ्का ... ५०१
१४—मौर्यपुत्र की दीक्षा ... ५०४
१५—अकम्पिक की शङ्का ... ५०५
१६—अकम्पिक की दीक्षा ... ५०६

बीसवाँ सर्ग

१—अचल भ्राता की शङ्का ... ५०९
२—अचल भ्राता की दीक्षा ... ५१०
३—मेतार्य की शङ्का ... ५११

४—मेतार्य की दीक्षा ... ५११
५—प्रभास की शङ्का ... ५१२
६—प्रभास की दीक्षा ... ५१३
७—केवल ज्ञान-प्रभाव ... ५१४
८—राजगृह की ओर गमन ... ५१६
९—वनपाल का विस्मय ... ५१७
१०—श्रेणिक को सूचना ... ५१८
११—वन्दनार्थ-प्रस्थान ... ५२२
१२—वीर के प्रति विनय ... ५२३
१३—अष्ट प्रतिहार्य ... ५२५
१४—धर्मोपदेश ... ५२७
१५—आत्मा की अविनश्वरता ... ५२८

इक्कीसवाँ सर्ग

१—नर पर्याय के कष्ट ... ५३३
२—जीव की भ्रान्ति ... ५३३
३—आत्म बल ... ५३६
४—अहिंसा सामर्थ्य ... ५३८
५—मोक्ष-सौख्य की महत्ता ... ५४०
६—नर भव की दुर्लभता ... ५४१
७—तेरहवाँ चतुर्मास ... ५४३
८—उपदेश-प्रभाव ... ५४३
९—राजगृह से प्रस्थान ... ५४६
१०—चौदहवाँ चतुर्मास ... ५४८
११—कौशाम्बी में प्रभावना ... ५४८
१२—पन्द्रहवाँ चतुर्मास ... ५५०

१३—सोलहवाँ चतुर्मास ... ५५१
१४—वीर की विख्याति ... ५५२
१५—सत्रहवाँ चतुर्मास ... ५५३
१६—अठारहवाँ चतुर्मास ... ५५४

बाईसवाँ सर्ग

१—श्रेणिक पर प्रभाव ... ५५७
२—युवराजों की दीक्षा ... ५५८
३—उन्नीसवाँ चतुर्मास ... ५५९
४—बीसवाँ चतुर्मास ... ५६०
५—इक्कीसवाँ चतुर्मास ... ५६१
६—बाईसवाँ चतुर्मास ... ५६३
७—स्कन्दक की दीक्षा ... ५६५
८—तेईसवाँ चतुर्मास ... ५६६
९—चौबीसवाँ चतुर्मास ... ५६६
१०—पच्चीसवाँ चतुर्मास ... ५६७
११—चम्पा के राजवंश पर प्रभाव ... ५६७
१२—छब्बीसवाँ चतुर्मास ... ५६८
१३—सत्ताईसवाँ चतुर्मास ... ५६९
१४—शिव राजर्षि पर प्रभाव ... ५७०
१५—अट्ठाईसवाँ चतुर्मास ... ५७१
१६—उनतीसवाँ चतुर्मास ... ५७२
१७—शाल और महाशाल की दीक्षा ... ५७३
१८—तीसवाँ चतुर्मास ... ५७४
१९—इकतीसवाँ चतुर्मास ... ५७४
२०—बत्तीसवाँ चतुर्मास ... ५७५

२१—तैंतीसवाँ चतुर्मास ... ५७५
२२—चौंतीसवाँ चतुर्मास ... ५७६
२३—पैंतीसवाँ चतुर्मास ... ५७७
२४—छत्तीसवाँ चतुर्मास ... ५७८

तेईसवाँ सर्ग

१—मगध की ओर गमन ... ५८१
२—सैंतीसवाँ चतुर्मास ... ५८१
३—अड़तीसवाँ चतुर्मास ... ५८१
४—उनतालीसवाँ चतुर्मास ... ५८२
५—चालीसवाँ चतुर्मास ... ५८२
६—इकतालीसवाँ चतुर्मास ... ५८३
७—प्रचार-प्रभाव ... ५८४
८—बयालीसवाँ चतुर्मास ... ५८५
९—पावापुर में स्वागत ... ५८५
१०—धर्मोपदेश का प्रभाव ... ५८७
११—अन्तिम दिन ... ५८९
१२—निर्वाणोत्सव ... ५९०
१३—दीपावलि ... ५९३
१४—जग की भ्रान्ति . ५९५
१५—वीर के स्मारक ... ५९६
१६—श्रुत केवली ... ५९८
१७—उत्तर भारत का अकाल ... ६००
१८—श्वेताम्बर-उत्पत्ति ... ६०१
१९—वीर-वाणी का ग्रन्थीकरण ... ६०२
२०—परिसमाप्ति ... ६०२

परिशिष्ट संख्या १ (पारिभाषिक शब्द कोष) ... ६०३
परिशिष्ट संख्या २ (विहार स्थल नाम कोष) ... ६४३
परिशिष्ट संख्या ३ (प्रमुख शिष्यों एवं भक्तों का परिचय) ६५६

—:०:—

चित्र-सूची

१—परम ज्योति महावीर ... ४६
२—त्रिशाल के १६ स्वप्न ... १०६
३—जिनेन्द्र को लेकर इन्द्राणी का निर्गमन ... २१०
४—देव-परीक्षा ... २४८
५—महावीर की दीक्षा ... ३६१
६—दृष्टिविष विषधर ... ३८०
७—देवाङ्गनाओं द्वारा परीक्षा ... ४३०
८—चन्दना का आहारदान ... ४४७

—❀—

प्रस्तावना

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकी यह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं, इसको,
लिखता कवि दृग का पानी है॥

जिनने न कभी उलझाये दृग,
नारी के श्यामल केशों में।
जिनने न कभी उलझाये दृग,
उनके अंचल के रेशों में ॥

जिनने न कभी भी रास रचा—
जिनने न कभी होली खेली।
जिनने न कभी जल क्रीड़ा की,
जिनने न कभी की रँगरेली ॥

जिनने फागुन की रातों में,
गाये उन्मादक गान नहीं।
जिनने सावन की संध्या में,
छेड़ी वंशी की तान नहीं ॥

जिनका परिचय तक हो न सका,
रागोद्दीपक शृंगारों से।
जो रहे अपरिचित आजीवन,
आलिंगन से अभिसारों से ॥

भोगों की गोदी में पल भी,
जिनका मन बना न भोगी था।
योगों के साधन से वञ्चित—
रह भी जिनका मन योगी था ॥

जिनका यह पौरुष देख स्वयं,
अभिमानी के भी भाल झुके।
जिनका यह साहस देख स्वयं,
सेनानी के भी भाल झुके॥

जिनकी मुद्रा में अङ्कित थे,
जग के सब प्रश्नों के उत्तर।
जिनके नयनों से बहता था,
करुणा का अमृतमय निर्झर॥

जिनकी दृढ़ता को देख चकित—
था अम्बर तल का ध्रुवतारा।
जिनकी पावनता से चिन्तित,
रहती थी गङ्गा की धारा॥

जो चित्र 'निर्जरा' का लिखते—
थे लिये तपस्या की तूली।
इतना भी ध्यान न देते थे,
कब आयी ऊषा गोधूली?

जिनके वचनों में 'सत्य' बसा,
भावों में 'शिव' तन में 'सुन्दर'।
जिनकी सेवा में शान्ति स्वयं,
तल्लीन रही नित जीवन भर॥

कैवल्य साधना तक में भी,
जिनको न कभी सन्देह हुवा।
चरणों पर पड़ी सफलता से,
जिनको न कभी भी स्नेह हुवा॥

जिनकी छाया में बाघिन की,
छाती से चिपटे मृगछोने।
सिहों के बच्चों को निर्भय,
पय पान कराया गौओं ने॥

जिनके दर्शन को चले सदा,
अहि नकुल सङ्ग ही झाड़ी से।
जिनके दर्शन को चले सदा,
गज सिँह के सङ्ग पहाड़ी से॥

जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति—
पा जिनका पौरुष धन्य हुवा।
जिनके सम पुरुष महीतल पर,
उस दिन से अभी न अन्य हुवा॥

अब तक भी जिनका मुक्ति-दिवस,
हर वर्ष मनाया जाता है।
गृह गृह में दीपावली जला,
जिनका यश गाया जाता है॥

जो कभी न लोचन उलझाते,
संसृति की श्यामल अलकों में।
पर सदा झूलते रहते जो,
भक्तों की पुलकित पलकों में॥

जिनको न सुला पाती सन्ध्या,
जिनको न जगा पाती ऊषा।
जिनको हैं दूषण से भूषण,
जिनको हैं भूसा सी भूषा॥

जो कभी पुजारी की थाली,
को भी स्वीकार नहीं करते।
जो कभी अनाड़ी की गाली--
को अस्वीकार नही करते॥

जिनकी सब पर समदृष्टि सदा,
सुर पर, नर पर, पशु-कीटों पर।
दीनों के जर्जर चिथड़ों पर,
भूपों के रत्न-किरीटों पर॥

अभिमान 'अहिंसा' को जिन पर,
हैं 'सत्य' 'शील' को स्वाभिमान।
अब तक 'अपरिग्रह' के मन पर,
छाया है जिनका गुण-वितान॥

जिनको कुछ 'सन्मति' कहते हैं,
कुछ कहते जिनको 'वर्द्धमान'।
कुछ 'महति' या कि 'अतिवीर' 'वीर'
कह कर गाते हैं यशोगान॥

कुछ कहते हैं 'कुण्डनपुर प्रकाश'
कुछ कहते हैं 'सिद्धार्थ-लाल'।
कुछ जिनको 'त्रिशला-नन्दन' कह,
निज भाल झुकाते हैं त्रिकाल॥

यों अपने अपने प्रिय नामों—
से जिनको भजते धर्मवीर।
पर जिनके इन सब नामों से—
भी अधिक लोकप्रिय 'महावीर'॥

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकीयह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं, इसको,
लिखता कवि-दृग का पानी है॥

यह नहीं कवित्व-प्रदर्शन है,
यह प्रतिभा का उपहार नहीं।
यह नहीं बुद्धि का कौशल है,
यह कविता का शृंगार नहीं॥

परम ज्योति महावीर

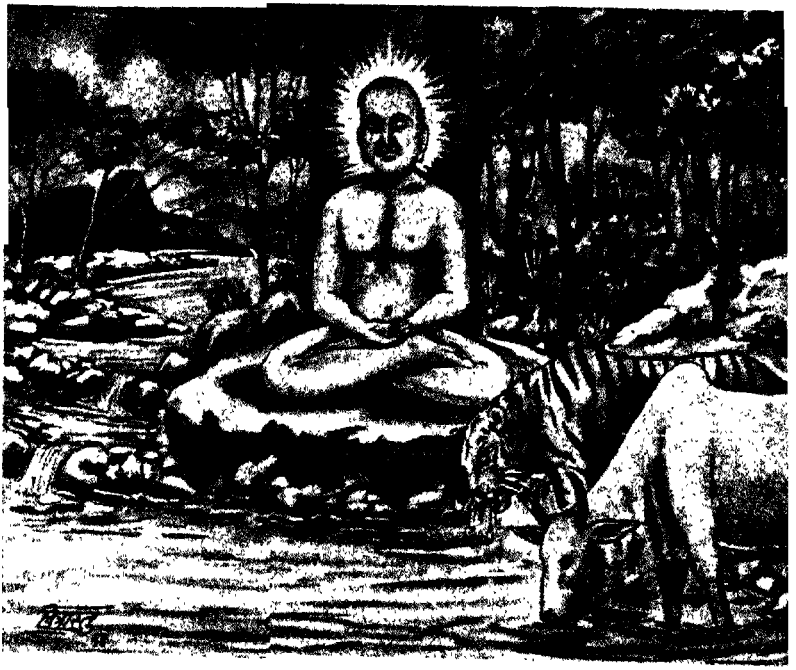

उनके ही मन की करुणा सी,
उनकी यह करुण कहानी है।
यह मसि से लेख्य नहीं इसको,
लिखता कवि दृग का पानी है॥

(पृष्ठ ४६)

कृषि नहीं सूखने पाती थी,
थी सुविधा सभी सिंचाई की !
प्रत्येक योजना बनती थी,
जनता की पूर्ण भलाई को ॥

उनके शासन की रीति नीति,
शीतल थी तरु की छाया सी !
आबाल वृद्ध नर नारी को,
प्रिय थी अपनी ही काया सी ॥

हर गीतकार निज गीतों में,
उनकी गुण गरिमा गाता था ।
हर चित्रकार निज चित्रों में,
उनका शुभ रूप बनाता था ॥

हर व्यक्ति उन्हें ही निज युग का,
सौभाग्य-विधाता कहता था ।
वह युग भी उनको ही निर्भय,
अपना निर्माता कहता था ॥

जाने कितने सामन्त उन्हें,
शिर बारम्बार नवाते थे ।
जाने कितने श्रीमन्त उन्हें,
उत्तम उपहार चढ़ाते थे ॥

सर्वत्र चतुर्दिक ही उनकी,
सत्कीर्ति कौमुदी फैली थी।
श्री राम राज्य सी दोष रहित,
उनके शासन की शैली थी॥

वे इन्द्र सदृश थे, थीं उनकी—
रानी त्रिशला इन्द्राणी सीं।
जिन धर्म सदृश वे सुखकर थे,
वे सुखदा थीं जिन वाणी सीं॥

सुषमा उनके हर अवयव में,
चञ्चल शिशु सी इठलाती थी।
तुलना करने पर काम-वधू,
से सुन्दर वे दिखलाती थीं॥

अन्तर भी वैसा मधुरिम था,
जैसा बहिरङ्ग सलोना था।
लगता था मानो प्राणवान्,
हो उठा सुगन्धित सोना था॥

जब वे षोडश शृंगारों से,
अपना सर्वाङ्ग सजाती थीं।
तो उन्हें मानवी कहने की,
सामर्थ्य नहीं रह जाती थी॥

उन सम कोमलता कभी कहीं,
देखी न गयी क्षत्राणी में।
केवल कोमल अणु लगे हुये—
थे तन में, मन में, वाणी में॥

उनमें नवीनता इतनी थी,
जितनी रहती है ऊषा में।
पावनता इतनी थी जितनी,
रहती निष्काम सुश्रूषा में॥

अधिकार पूर्ण विज्ञाता थीं,
वे सारी ललित कलाओं की।
अध्यक्षा होतीं थीं प्रायः,
वे महिला-लोक सभाओं की॥

था ज्ञात पाक विज्ञान उन्हें,
नित नव मिष्टान्न बनातीं थीं।
कौशल से प्रिय को विस्मित कर
प्रति दिवस प्रशंसा पातीं थीं॥

यौवन का उनको गर्व न था,
सुन्दरता का अभिमान न था।
माया का किंचित् बोध न था,
छलना का भी परिज्ञान न था॥

सर्वदा स्वस्थ वे रहतीं थीं,
होता न उन्हें था रोग कभी ।
अतएव न करना पड़ता था,
औषधियों का उपयोग कभी ॥

मन का सहवास न तजता था,
संयम में भी उल्लास कभी ।
अधरों का वास न तजता था,
निद्रा में भी मृदु हास कभी ॥

यद्यपि थीं दर्शन तुल्य गहन,
पर लगतीं सरस कहानी सी ।
तत्काल अपरिचित दर्शक को
लगने लगतीं पहिचानी सी ॥

उनको था अन्य न कोई भय,
केवल पापों से डरतीं थीं ।
वे और न कुछ भी हरतीं थीं,
बस प्रियतम का मन हरतीं थीं ॥

डग नहीं एक भी धरतीं थीं,
प्रिय-इच्छा के प्रतिकूल कभी ।
किंचित् भी देर न करतीं थीं,
निज धर्म-क्रिया में भूल कभी ॥

उत्साहित होकर उत्सव से,
हर धार्मिक पर्व मनातीं थीं।
सत्पात्र दान का अवसर पा,
वे फूली नहीं समाती थीं॥

प्रिय सरल वेष था उनको, वे—
आडम्बर अधिक न रखतीं थीं।
तो भी स्वाभाविक सुषमा से,
वे विश्व सुन्दरी लगतीं थीं॥

रखतीं सदैव यह ध्यान, किसी—
से कोई दुर्व्यवहार न हो।
मन-वचन-कर्म से कभी किसी—
का कोई भी अपकार न हो॥

उपहास कदापि न करतीं थीं,
वे गूँगे, लँगड़े, लूलों का।
कल्याण मनाया करतीं थीं,
भव-वन में भटके भूलों का॥

यदि पति का शिर भी दुखता तो,
उपचार स्वयं वे करतीं थीं।
उनको सप्रेम खिला कर ही,
आहार स्वयं वे करतीं थीं॥

तव कार्य-कुशलता, कर्मठता,
नैतिकता पर विश्वास मुझे।
अतएव कार्य यह तुमसे ही,
करवाने का उल्लास मुझे॥

एवं है तुममें ही इसके—
सम्पादन की भी शक्ति सभी।
इसके अतिरिक्त अबाधित है,
तव धर्म-भावना भक्ति सभी॥

औ, सबको ज्ञात तुम्हारी निज,
कर्त्तव्य पालने की शैली।
बस, इसी हेतु तव कीर्त्ति-कला—
भी दशों दिशाओं में फैली॥

केवल इतना ही नहीं, अपितु—
हो मेरे तुम्हीं प्रधान सखा।
हर समय तुम्हीं ने मेरी हर—
चिन्ता हरने का ध्यान रखा॥

अतएव अधिक समझाने में,
दिखता है कोई सार नहीं।
आशा है, मेरे वचनों को,
तुम समझोगे गुरु भार नहीं॥

अब अच्युतेन्द्र को छः महीने—
ही रहने का अधिकार यहाँ ।
जो रहा मनस्वी इतने दिन,
बन सुरपुर का शृङ्गार यहाँ ॥

इसके उपरान्त सुरेश्वर यह,
निज वर्तमान तन छोड़ेगा ।
औ, कुण्ड ग्राम की महिषी से
जननी का नाता जोड़ेगा ॥

पर राज पुत्र भी हो जीवन,
सुख में न व्यतीत करेगा यह ।
निज वीतरागता से रतिपति—
को भी भयभीत करेगा यह ॥

हो साधु पुनः कैवल्य-कला,
पायेगा त्रिशला नन्दन यह ।
पा इसे शान्ति की गीता को,
गायेगा ताप निकन्दन यह ॥

जन जन तक पावन धर्मामृत,
पहुँचायेगा जगदीश यही ।
करुणा की विजय पताका भी,
फहरायेगा योगीश यही ॥

यह युग का अन्तिम तीर्थंकर,
सब जगती इसको पूजेगी ।
औ, कीर्ति—कोकिला तो इसकी,
युग युग तक जग में कूजेगी ॥

अतएव सखे ! तुम 'कुण्ड ग्राम,—
की ओर प्रयाण करो सत्वर ।
जा वहाँ रत्न बरसाओ नित,
'सिद्धार्थ, नृपति के प्राङ्गण पर ॥

जिससे जिनवर का जन्म निकट,
समझे सारा संसार वहाँ ।
हर व्यक्ति जान ले तीर्थंकर,
का होना है अवतार यहाँ ॥

अब गमन करो, शुभ कार्यों में—
देरी उपयुक्त नहीं होती ।
इन कल्प पादपों से ले लो,
मरकत, माणिक, मूँगा मोती ॥,

इन शब्दों पूर्वक सुरपति ने;
पूरे अपने उद्‌गार किये ।
औ, 'एवमस्तु' कह धनपति ने
सम्पूर्ण वचन स्वीकार किये ॥

तत्काल स्वर्ग से भूतल को,
मारुत गति से अलकेश चला।
नभ पथ में लगा सुरेश्वर का—
ही मूर्तिमान आदेश चला॥

'भारत' के पावन अम्बर में,
आते ही प्रथम 'विदेह' दिखा।
पश्चात् दिखा वह 'कुण्ड ग्राम'
तदनन्तर भूपति-गेह दिखा॥

यह देख प्रदक्षिण देने को,
त्रय बार चतुर्दिक वह घूमा।
सिद्धार्थ—सौध का शिखर पुनः
उसने अति श्रद्धा से चूमा॥

यों क्षण भर आत्म विभोर रहा,
औ, उसे न कुछ भी चाह रही
उसकी जीवन की श्वास श्वास,
थी अपना भाग्य सराह रही॥

कर सुखद कल्पना भावी की,
होता था उसको तोष नहीं।
क्षणभर कर्त्तव्य न पाला पर
इसमें था उसका दोष नहीं॥

पर सेवक धर्म न उसकी इस—
भावुकता को भी देख सका ।
जो कभी न अपने से गुरुतर,
ममता, माया को लेख सका ॥

कर्त्तव्य-प्रेरणा पा उसने,
की किंचित भी तो देर नहीं ।
प्राङ्गण में रत्नों की वर्षा
द्रुत करने लगा कुबेर वहीं ॥

'ऐरावत' की ही शुण्ड सदृश,
गिरती थी रत्नों की धारा ।
वह दृश्य विषय था नयनों का,
कथनीय नहीं शब्दों द्वारा ॥

वह रत्न राशि जिस समय वहाँ,
आती थी अम्बर से नीचे ।
लगता, त्रिशला के आशा-वन,
रत्नों से जाते हों सींचे ॥

या 'अच्युतेन्द्र' के आने को
सोपान लगाया जाता हो ।
अथवा अम्बर से अवनी तक
परिधान बिछाया जाता हो ॥

रजनी का अन्तिम प्रहर लगा,
निष्प्रभ से रजनीकान्त हुये।
तारापति की यह दशा निरख,
तारागण भी अति क्लान्त हुये॥

तम बढ़ा और प्रत्येक वस्तु,
हो गयी पूर्णतः काली थी।
या सृष्टि किसी रँगरेजिन ने
काले रँग में रँग डाली थी॥

लगता था, सूख रहीं श्यामल—
साड़ी नदियों के कूलों पर।
सो रही भ्रमरियों की सेना,
जगती भर के सब फूलों पर॥

महिषों की परिषद ही जैसे
बैठी हो सारे खेतों में।
औ' तारकोल हो पोत गया,
कोई सम्पूर्ण निकेतों में॥

नभ को मसिभाजन समझ किसी-
ने काली स्याही घोली हो।
ली पहिन दशों दिग्वधुओं ने
काली मखमल की चोली हो॥

विपिनों में जैसे शेषनाग—
की सारी प्रजा विचरती हो।
सुरपुर से श्यामल भूषा में
परियों की पंक्ति उतरती हो॥

होते हों जैसे सम्मेलन,
पथ में जग भर के चींटों के।
श्यामा की शरण पधारे हों,
दल श्याम वर्ण के कीटों के॥

गौएँ महिषों सी दिखतीं थीं,
कौओं से दिखते थे तोते।
मृग ऐसे दिखते, ज्यों भालू—
काले कम्बल पर हों सोते॥

यों भू पर श्यामा के श्यामल
तम का शासन सा छाया था।
जिसने नर-पशु-कृमि कीटों को,
भी तो घनश्याम बनाया था॥

सब सुख-निद्रा में सोये थे,
बस अन्धकार ही जगता था।
जो निशि की रक्षा में तत्पर
कटि बद्ध सुभट सा लगता था॥

षष्ठी का चन्द्र नभाङ्गण में,
चुपचाप दीप सा जलता था।
अतएव न उसकी किरणों से
भूमण्डल का तम गलता था॥

ध्रुवतारा सिवा सभी तारों—
की आभा घटती जाती थी।
जो अपनी भावी मनोव्यथा—
का ही सङ्केत बताती थी॥

रजनी को बिदा कराने को,
अब आने वाली डोली थी।
अतएव न उसको सूझ रही,
अब कोई और ठिठोली थी॥

छा गयी पूर्ण नीरवता थी,
कोई भी स्वर न सुनाता था।
मारुत भी मौन हुवा, तरु के—
पल्लव तक वह न हिलाता था॥

शय्या पर 'त्रिशला' लेटी थीं,
आनन पर कान्ति निराली थी।
शिर से अञ्चल था सरक चुका,
बिखरी केशावलि काली थी॥

शय्या पर पड़ी पँखुडियाँ थीं,
जूड़ा से शिथिलित फूलों की।
थी सुरभि व्याप्त शयनालय में,
इत्रों से सिक्त दुकूलों की॥

नीलम मणि दीपों की आभा,
कोने-कोने तक फैली थी।
अतएव दुग्ध सी शय्या भी
उस समय भासती मैली थी॥

इतने में ही घड़ियाली ने,
टन टन टन तीन बजाया था।
अथवा स्वप्नों को आने का,
उपयुक्त समय बतलाया था॥

उसका संकेत समझ स्वप्नों-
को कर्त्तव्यों का बोध हुवा।
षोड़श स्वर्गों से सङ्ग चले,
आपस में नहीं विरोध हुवा॥

दे चले सूचना भावी की,
वे निज सांकेतिक भाषा में।
त्रिशला से बोले—'फल लगने-
वाले हैं तव अभिलाषा में॥'

यह सुनते ही 'त्रिशला' रानी के
मन में अभिनव अनुभूति हुई।
यों लगा कि उनके सम्मुख ही,
एकत्रित स्वर्ग-विभूति हुई॥

ये दृष्य नींद में दिखते, या
मैं जगती हूँ, यह भूलीं थीं।
जाने उन स्वप्नों की स्रष्टा
किस कलाकार की तूलीं थीं॥

या किसी शची ने 'त्रिशला' को
वे दृश्य बनाकर भेजे थे।
स्वप्नों ने चुपके से आ जो,
रानी को स्वयं सहेजे थे॥

यह सब उनने चुपचाप किया,
जिससे निद्रा भी भङ्ग न हो।
सब दृश्य देख लें महिषी, पर-
बाधित कोई भी अङ्ग न हो॥

कारण वे बनने वालीं थीं,
उन तीर्थंकर की माता अब।
जिनके चरणों में माथा नित
हर करुणाभक्त झुकाता अब॥

वे स्वप्नों की मोहकता से,
मन में फूली न समातीं थीं।
थे नयन मुँदे पर अधरों से,
वे मन्द मन्द मुसकातीं थीं॥

कारण, विलोक वह स्वप्नावलि,
निज अहोभाग्य ही माना था।
नारी की महिमा गरिमा को,
उनने उस ही दिन जाना था॥

हर सुमन एक से एक रुचिर,
देखे स्वप्नों की माला में।
उसके उपरांत न जागा वह
सौभाग्य किसी नव बाला में॥

जाने कितने ही पुण्यों के
फल से उनको यह योग मिला।
जो दुर्लभ है इन्द्राणी को,
उनको वह पावन भोग मिला॥

आओ, हम भी लें देख उन्हें,
'त्रिशला' जो स्वप्न निरखतीं थीं।
जिनकी कमनीय कसौटी पर
वे अपना भाग्य परखतीं थीं॥

ये शब्द दासियों के सुनकर,
'त्रिशला' को अति आनन्द हुवा।
वे उठीं, वहाँ की दीपावलि–
का शुचि प्रकाश भी मन्द हुवा॥

फिर खोला द्वार शयन-गृह का,
दासी को नहीं पुकारा भी।
पर हुई उपस्थित, आयीं हों–
ज्यों खिंचकर चुम्बक द्वारा ही॥

आ शीघ्र किसी ने फेंक दिये,
शय्या के बासी फूल सभी।
दी पोंछ किसी ने कौशल से,
प्रत्येक वस्तु की धूल सभी॥

सब सावधान थीं, रानी को–
हो सकी न किंचित् भी बाधा।
जब कक्ष स्वच्छ हो गया तभी,
उनने सामायिक को साधा॥

वे लगीं सोचने, 'भववन में,
निज जन्म अनन्त बिताये हैं।
कर्मों के वश में रह मैंने,
अगणित दुख भार उठाये हैं॥

पर नहीं आज तक कभी मुझे,
निज आत्म रूप का बोध हुआ।
शुभ अशुभ आस्रवों के आने,
में कभी न गति-अवरोध हुवा॥

बढ़ सकी मुक्ति की ओर नहीं,
परित्याग मोह के बन्धन को।
ईंधन हित रही जलाती हा!
मैं सदा मलयगिरि चन्दन को॥

यों अपनी ही जड़ता से चारों—
गतियों के मध्य भटकती हूँ।
औ' पाप-पुण्य के तरुओं के—
विषमय मधुमय फल चखती हूँ॥

जो पाप-पुण्य से रहित हुये,
सचमुच वे ही बड़ भागी हैं।
जिनने विषयाशा को त्यागा
वे ही तो सच्चे त्यागी हैं॥

मैं भी सब बन्धन त्याग सकूँ,
भगवन्! इतना सौभाग्य मिले।
अब तक हर भव में राग मिला
अब परभव में वैराग्य मिले॥"

यों आत्म शुद्धि के लिये स्वयं,
वैराग्य भावना भातीं थीं।
डूबीं थीं इतनी भावों में,
प्रतिमा सी शान्त दिखातीं थीं॥

इस आत्म-चिन्तवन में उनको
अनुपम आत्मिक अनुभूति हुई।
यों लगा कि जैसे करतल गत,
शुद्धात्मानन्द विभूति हुई॥

'मैं 'कुण्ड ग्राम' की महिषी हूँ',
यह भी वे क्षण को भूल गयीं।
अविकार सिद्ध की मुद्रा भी
उनके नयनों में झूल गयी॥

निज पूर्व सुनिश्चित क्षण में फिर,
क्रमशः यह चिन्तन भंग हुवा।
रानी का उठना, सखियों का—
आना दोनों ही संग हुवा॥

'सिद्धार्थ-वल्लभा' को कोई—
भी वस्तु पड़ी न मँगानी थी।
उनकी हर प्रकृति सदा से ही,
हर दासी की पहिचानी थी॥

उनको जब जो भी इष्ट हुई,
तत्काल उन्हें वह वस्तु मिली।
आ गयी वहीं सामग्री सब,
पर उनकी जिह्वा भी न हिली॥

वे स्वप्न-फलों को सुनने की—
मन में थीं आज उमंग लिये।
अतएव शीघ्रता से पूरे,
दिन चर्या के वे अङ्ग किये॥

पश्चात् स्नान कर नव भूषा,
धारण की आज निराली थी।
चेरी ने कौशल से गूँथी,
उनकी केशावलि काली थी॥

इसके उपरान्त विभूषण वे,
पहिने रुचि के अनुरूप स्वयं।
प्रायः ही जिन्हें पहिनने का,
आग्रह करते थे भूप स्वयं॥

आभरण पहिन कर मांग भरी,
खींची सिन्दूरी रेखा फिर।
यों रुचि से सब शृङ्गार किये,
दर्पण में निज मुख देखा फिर॥

कुछ अंश पोंछकर ठीक किया,
अधरों की ललित ललामी को।
वे चाह रहीं थीं, सज्जा में—
कोई त्रुटि दिखे न स्वामी को॥

हर वस्तु ठीक कर राजा से,
मिलने रानी सोल्लास चली।
यों लगा, इन्द्र से मिलने को,
इन्द्राणी उनके पास चली॥

आओ, हम भी चल राजसभा--
में सात्विक स्वप्न विधान सुनें।
'त्रिशला' माँ के गर्भाशय में—
संस्थित शिशु का गुण गान सुनें॥

—×—

चौथा सर्ग

वे बिना परिश्रम त्रिभुवन-पति—
का भार उठातीं जातीं थीं।
निज कुक्षिमध्य युग-स्रष्टा का
आकार बनातीं जातीं थीं॥

'सिद्धार्थ' सिंहासन पर बैठे—
थे आनन पर अति ओज लिये।
ऊपर को भाल उठाये औ'
नीचे को चरण-सरोज किये॥

बहुमूल्यमयी नव भूषा से,
शोभित थे अनुपम अंग सभी।
उनकी परिमार्जित अभिरुचि के,
सूचक थे जिसके रंग सभी॥

निज नियत आसनों पर सविनय
आसीन सभी अधिकारी थे।
जो अपने अपने पद के ही,
अनुरूप रूप के धारी थे॥

उस राज सभा की नियमावलि—
का भंग न करता था कोई।
सबके अन्तस् में अनुशासन—
की नव बीजावलि थी बोयी॥

प्रहरी गण भी थे मौन खड़े,
परिषद् गृह के हर कोने में।
सम्राट्-प्रताप झलकता था,
उनके यों तत्पर होने में॥

जिस ओर वहाँ पर देखो, बस
सुखदायी शान्ति दिखाती थी ।
जो नृप की शांति-व्यवस्था को-
ही बारम्बार बताती थी ।।

जितने जन वहाँ उपस्थित थे,
अणुमात्र किसी को खेद न था ।
अधिकार यथोचित सबको थे,
पर पक्षपात औ' भेद न था ।।

इतने में 'त्रिशला' आ पहुँचीं,
समयोचित नव शृंगार किये ।
नृप के आसन में समभागी-
बनने का भी अधिकार लिये ।।

सामन्त, सभासद, सेनापति,
सब ही उनको पहिचान गये ।
कारण विशेष है आने का,
यह भी वे सहसा जान गये ।।

अविलम्ब खड़े हो सबने ही,
उनको निज शीश झुकाया भी ।
निज विनय प्रदर्शन से महिषी-
के प्रति सद्भाव दिखाया ही ।।

भूपति ने भी उठ स्वयं उन्हें,
निज वामासन पर बैठाया।
आगमन-प्रयोजन सुनने को,
उनका अन्तस् था ललचाया॥

अतएव प्रेम से बोले वे,
'आने का हेतु बताओ अब।
मैं उसे जानने को उत्सुक,
इससे मत देर लगाओ अब॥'

यह सुन 'त्रिशला' ने कहा—'नाथ!
मैं सब कुछ अभी बताती हूँ।
हैं आप समुत्सुक सुनने को,
मैं कहने को ललचाती हूँ॥

जब तक न आप से कह लूंगी,
होगा मुझको भी तोष नहीं।
जो गुप्त आपसे हो, ऐसा—
मेरे भावों का कोष नहीं॥

तो सुनें, यामिनी में मैंने,
है सोलह स्वप्नों को देखा।
पर उनका क्या है फलादेश,
मैं लगा न पायी यह लेखा॥

अतएव शरण में आयी हूँ,
मैं अपने भाग्य विधाता की।
अपने मतिमान बृहस्पति की,
अपने जीवन-निर्माता की॥

अब आप कृपा कर स्वप्नों के,
सोलह दृश्यों के नाम सुनें।
सुन अपनी व्यापक प्रज्ञा में,
उन सब का ही परिणाम गुनें॥

हैं आप स्वयं ही विज्ञ, अतः —
मैं नाम मात्र ही बोलूँगी।
हाँ, आप कहेंगे जो विस्तृत—
फल उसे अवश्य सँजो लूँगी॥

उन दृश्यों के क्रम को नहीं अभी,
तक मेरी संस्मृति भूली भी,
कारण न अल्प भी पड़ने दी।
उन पर विस्मृति की धूली भी॥

वे सोलह ये-गजराज, वृषभ,
हरि, लक्ष्मी का संस्नान तथा।
माला, शशि, रवि, युग मीन, कलश,
सर, सिन्धु, सिंहासन, यान तथा॥

नागेन्द्र निकेतन, रत्न राशि,
निर्धूम अग्नि अभिराम यही ।
स्वप्नों में दिखे हुये सोलह-
दृश्यों के हैं नाम यही ॥

अवलोक आप निज प्रज्ञा में,
इनका सब फल बतलायें अब !
निद्रा ने स्वप्न दिखाये हैं,
फल आप मुझे दिखलायें अब ॥

यों निज विचार कह चुकने पर,
'त्रिशला' मन में उल्लास लिये ।
हो गयीं मौन, उन स्वप्नों का-
फल सुनने की अभिलाष लिये ।

सब लगे देखने नृप का मुख,
ज्यों ही वह वचन प्रवाह रुका ।
'सिद्धार्थ'—कथित फल सुनने को,
सबके मन का उत्साह झुका ॥

पर भूपति क्षण भर लीन रहे,
जाने किन सुखद विचारों में ॥
तदनन्तर व्यक्त लगे करने,
स्वप्नों का फल उद्गारों में ॥

बोले—'लो सुनो, सभी स्वप्नों—
का फल मैं तुम्हें सुनाता हूँ।
तुम भी प्रमोद से फूल उठो,
मैं फूला नहीं समाता हूँ॥

सब सविस्तार बतलाता हूँ,
मुझको जो कुछ भी ज्ञात हुवा।
जिसकी कि कल्पना करने से,
रोमाञ्चित मेरा गात हुवा॥

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर,
तव कान्त-कुक्षि में आये हैं।
उनके गरिमामय गुण ही इन,
स्वप्नों ने हमें बताये हैं॥

अब मैं क्रमशः सब स्वप्नों के
सुखकर रहस्य को खोलूँगा,
प्रत्येक स्वप्न का फलादेश,
मैं पृथक् पृथक् ही बोलूँगा॥

षोड़स् स्वप्नों के हित प्रयोग,
होगा बस षोड़स छन्दों का।
इतने में ही सब समाधान,
होगा तव अन्तर्द्वन्दों का॥

गज ऐरावत सा देखा जो,
उसका फल उत्तम जानो तुम।
इस क्षण से एक सुलक्षण सुत—
की माता निज को मानो तुम॥

अब सुनो, स्वप्न में दृष्ट वृषभ,
जो बात विशेष बताता है।
वह सुत की धर्म धुरंधरता—
की ही सामर्थ्य दिखाता है॥

तदनन्तर जो वह सिंह दिखा,
उसने भी यही बताया है।
निस्सीम शक्ति की धारक उस,
गर्भस्थित शिशु की काया है॥

पश्चात् दिखी जो लक्ष्मी है,
वह भी देती सन्देश यही।
होगा चिर मुक्ति स्वरूपा उस
लक्ष्मी का भी प्राणेश यही॥

सुरभित सुमनों की माला ने,
भी यह ही निस्सन्देह कहा।
जग में प्रसिद्ध हो पायेगा,
वह जगती भर का स्नेह महा॥

इसके उपरान्त दिखी तुमको
जो पूर्णाकृति रजनीश-कला।
वह सूचित करती मोह-तिमिर—
को देगा वह योगीश जला॥

तदनन्तर दिया दिखायी जो
द्युति शाली दिव्य दिनेश स्वयं।
वह कहता ज्ञान-प्रकाशन कर,
होगा वह सुत ज्ञानेश स्वयं॥

फिर मीन युगल भी जो तुमको,
सपने में अपने पास दिखा।
तुम समझो उसके छल से ही,
सन्तति का भाग्य विकास दिखा॥

जो जल मय पूर्ण कलश देखे,
उनने भी यही बताया है।
वह सुख की प्यास बुझाने को,
अमृत-घट बन कर आया है॥

जो दिखा सरोजमयी सरवर,
उसने भी बारम्बार अहा।
उसको सहस्र से आठ अधिक,
शुभ लक्षण का आगार कहा॥

पश्चात् दिखा वह सागर भी
कहता मुझसा गम्भीर महा।
होगा गम्भीर विचारक सुत'
मर्यादा पालक धीर महा ॥

इसके उपरान्त तुम्हें जो वह,
सिंहासन दिखा निराला है।
वह कहता पुत्र तुम्हारा वह,
त्रिभुवन पति बनने वाला है ॥

जो देव विमान दिखा तुमको,
उसका फल यही विचारा है।
वह जीव तुम्हारे गर्भाशय—
में सुर पुर त्याग पधारा है ॥

फिर नाग भवन जो देखा है,
उसका भी अर्थ सुहाना है।
उस सुत को तीनों ज्ञान लिये
ही जन्म जगत में पाना है ॥

तदनन्तर तुम्हें दिखायी दी,
जो रत्न राशि मनहारी है।
वह सम्यक सूचित करती है
सुत श्रेष्ठ गुणों का धारी है ॥

जो अग्नि दहकती हुई दिखी,
उससे भी होता ज्ञान यही ।
तप रूप अग्नि में वसु कर्मों-
को होमेगी सन्तान यही ॥

यों मुझे तुम्हारे स्वप्नों का,
जो अर्थ ज्ञान में आया है।
वह विशद रूप से पृथक पृथक,
भी मैंने तुम्हें बताया है ॥

अब फलीभूत ही समझो तुम,
दम्पति-जीवन की आशा को ।
निज हृदय-देश से निर्वासन-
दे दो अविलम्ब निराशा को ॥

लो मान, हमारी चिन्ताओं-
का आज इसी क्षण अन्त हुवा ॥
पतझड़ की अवधि समाप्त हुई,
अब प्राप्त प्रशस्त वसन्त हुआ ॥

हे देवि ! तुम्हारा पुण्य महा,
गर्भस्थित जो जिनदेव हुये ।
वह मुक्ति तरसती है जिनको,
वे प्राप्त तुम्हें स्वयमेव हुये ॥

है सत्य वचन यह अक्षरशः,
इसमें किंचित् सन्देह नहीं।
उस सिद्ध शिला के राही से,
पावन होगी यह गेह-मही॥

अतएव ध्यान से गर्भवती—
का हर कर्त्तव्य निभाओ तुम।
अनुकुल क्रियाओं को करने—
में मत आलस्य दिखाओ तुम॥

कारण, अब तक तुम जाया थीं,
अब जननी-पद भी पाना है।
इस अभिनव पद के योग्य अतः,
अपने को तुम्हें बनाना है॥

इस हेतु त्याग कर चिन्ता-भय,
निश्चिन्त बनो, निर्भीक बनो।
बन वीर-प्रसविनी वधुओं को,
अनुपम आदर्श प्रतीक बनो॥

अब मुझे आज की परिषद् यह
करना सत्वर ही भंग अभी।
इससे न करूंगा बात अधिक,
इस समय तुम्हारे संग अभी॥

कल से आष्टाह्निक मह पूजन,
इस वर्ष विशेष मनाना है।
श्री सिद्धचक्र का पूजन हर
जिन मन्दिर में करवाना है॥

अतएव यहाँ से जा कर तुम
विश्राम अभी सामोद करो।
या अपना मन बहलाने को,
सखियों से मनोविनोद करो॥

यों विशद विवेचन मधु स्वर में—
कर पूर्ण मौन नरराज हुये।
सुन जिसे ध्यान से महिषी के
हर अङ्ग प्रफुल्लित आज हुये॥

वक्तव्य पूर्ण कर जैसे ही,
'सिद्धार्थ'—विचार-प्रवाह रुका।
'त्रिशला' का मस्तक भी उनके,
पद पंकज पर सोत्साह झुका॥

सविनय प्रणाम कर प्रियतम को,
वे उठीं और सोल्लास चलीं।
उस राज सभा से बाहर आ,
वे सखियों सँग रनिवास चलीं॥

इस नव प्रसंग में षट्पञ्चा—
शत् दिक्कुमारियाँ लीला से।
निज छद्मवेश में आ बोलीं,
सविनय उन लज्जाशीला से॥

"हम आयीं ले तव चरणों की—
सेवा करने का लोभ शुभे।
दें शरण, हमारी सेवा से,
होगा न आपको क्षोभ शुभे॥

हम नहीं करेंगी कपट कभी,
हे देवि! आप विश्वास रखें।
यह कार्य प्रमाणित कर देगा,
कुछ दिन बस अपने पास रखें॥

हम सब भी तो परिचर्या की,
हर विधि में पूर्ण प्रवीणा भी।
हम गा भी सकतीं हैं और बजा—
सकतीं हैं वंशी वीणा भी॥

हम नयी कलामय विधियों से,
कर सकतीं हैं शृङ्गार सभी।
तन की हर पीड़ा बाधा का
कर सकतीं हैं उपचार सभी॥

शोभामय सुन्दर शैली से,
हम शयनागार सजा सकतीं।
नित नूतन बन्दनवार बना,
हम हर गृह द्वार सजा सकतीं॥

अनुरूप सजावट कर सकतीं,
पर्वों के विविध प्रसंगों पर।
अति मुग्ध आप हो जायेंगी,
सजा करने के ढंगों पर॥

प्रिय लगें आपको जैसे भी,
सकतीं हम वैसे हार बना।
सुमनों के सुन्दर भूषण भी
सकती हैं विविध प्रकार बना॥

कह सकतीं मन बहलाने को,
प्रति दिवस नवीन पहेली भी।
दासी भी बन कर रह सकतीं,
रह सकतीं बनी सहेली भी॥

इसके अतिरिक्त हमें स्वामिनि!
है ज्ञात पाक विज्ञान सभी।
हम छप्पन भोग बना सकतीं,
मिष्टान्न सभी पक्वान सभी॥

अभ्यस्त हमें हैं हे कुशले!
प्रायः सब ललित कलाएँ भी।
कण्ठस्थ न जाने हैं कितनी,
कमनीय कथा कविताएं भी॥

गार्हस्थ्य-शास्त्र की ज्ञाता हम,
आता है हर गृह कार्य हमें।
गृहणी के सारे कर्त्तव्यों-
को सिखा चुके आचार्य हमें॥

हम नयी प्रणाली से सकतीं-
हैं गूँथ आप के केशों को।
अविलम्ब सदा ही कार्यान्वित,
कर सकतीं तव आदेशों को॥

अतएव नियुक्त हमें अपनी-
सेवा में निस्सङ्कोच करें।
हम पारिश्रमिक में क्या लेंगी?
इसका मत किंचित सोच करें॥

तव कृपा दृष्टि का पाना ही,
है अलका पति का कोष हमें।
जो आप स्नेह से दे देंगी,
उससे ही होगा तोष हमें॥

पर कभी आपकी इच्छा के,
विपरीत न निज मुख खोलेंगी।
हर समय विनय में घुली हुई,
मधुवाणी हम सब बोलेंगी।"

यों उनने त्रिशला देवी को,
सूचित अपने उद्‌गार किये।
सुन जिनको महिषी ने उनको
परिचर्या के अधिकार दिये॥

यह स्वीकृति पाकर मुदित हुई
वह दिक्कुमारियों की टोली।
उस क्षण से उनकी सेवाओं—
का लक्ष्य बनी रानी भोली॥

अब वे त्रिशला की सेवा में,
करतीं थीं समय व्यतीत सभी।
सिद्धार्थ-प्रिया को भी उनमें,
आलस्य हुवा न प्रतीत कभी॥

प्रत्येक कार्य के करने में—
उनका चातुर्य दिखाता था।
मन में अभिलाषा करते ही,
इच्छित पदार्थ आ जाता था॥

कोई प्रभात में लिये खड़ी,
रहती थी मञ्जन दाँतों का।
कोई भर नीलम-चषकों में,
देती जल स्वर्ण-परातों का॥

कोई उनके मृदु अङ्गों में,
उत्तम उबटना लगाती थी।
कोई बल वर्धक तैल लगा,
उनके कर चरण दबाती थी॥

कोई कञ्चन के कलशों के,
जल से उनको नहलाती थी।
कोई उनके मृदु पद तल भी,
धो फूली नहीं समाती थी॥

कोई कोमल अंगुलियों से
उनकी केशावलि धोती थी।
कोई दुकूल झट लेती थी,
कोई कञ्चुकी निचोती थी॥

कोई तन का जल में पोंछ नये,
परिधान उन्हें पहिनाती थी।
कोई द्रुत केश-प्रसाधन को,
कंघी, दर्पण ले आती थी॥

कोई तो सुरभित तैल लगा,
मृदु केशावली भिगोती थी।
कोई तो उनकी वेणी में,
गूंथा करती मणि मोती थी॥

कोई उनके युग नयनों में,
अञ्जन अभिराम लगाती थी।
कोई नव माँग बना उसमें,
सिन्दूर ललाम लगाती थी॥

कोई झट लगा महावर ही,
चरणों को लाल बनाती थी।
कोई सौभाग्य-तिलक माथे—
पर भी तत्काल बनाती थी॥

कोई सतर्कता से उनको—
ठोढ़ी पर तिल को लिखती थी।
कोई उनके कर-पल्लव में,
मिँहदी ही रचती दिखती थी॥

कोई साड़ी के अञ्चल में,
अति सुरभित इत्र लगाती थी।
कोई मुख मण्डल में सुरभित,
सित चूर्ण पवित्र लगाती थी॥

कोई आभरण मँजूषा ला,
पहिनाती भूषण अङ्गों में।
अत्यन्त दमकते थे जिनके-
नग अपने अपने रङ्गों में ?

कोई पहिनाकर शीश फूल,
उनका शिर भाग सजाती थी।
कोई पहिनाकर कर्णफूल,
कर्णों की कान्ति बढ़ाती थी॥

कोई नासा में पहिनाने-
को नथ अविलम्ब उठाती थी।
कोई उनके कमनीय कण्ठ-
में हीरक हार पिन्हाती थी॥

कोई कमनीय भुजाओं में,
भुज बन्ध बाँधती धीरे से।
कोई कर में पहिनाती थी,
नव वलय जटित मणि हीरे से॥

कोई उनकी मृदु अंगुलियों में,
पहिनाती स्वर्ण-अँगूठी थी।
कोई कसने लगती उनकी-
कटि में मेखला अनूठी थी॥

कोई नूपुर पहिनाती थी
उनके मृदु चरण सरोजों को।
कोई पहनाती पुष्प हार,
जो लेते घेर उरोजों को॥

कोई उनके मृदु अधरों में
रँग हलका लाल लगाती थी।
कोई उनकी दन्तावलि में,
मिस्सी तत्काल लगाती थी॥

कोई पूजन का समय समझ,
पूजन सामग्री लाती थी।
कोई वसु द्रव्यों को थाली—
में विधिवत् शीघ्र लगाती थी॥

जिनराज आरती को कोई,
शुचि मणि मय दीप जलाती थी।
कोई स्वर्णिम धूपायन में
अंगारे कुछ सुलगाती थी॥

जब रानी पूजा पढ़तीं थी तो,
कोई सँग में कहलाती थी।
कोई शुभ नृत्य किया करती,
कोई मधु वाद्य बजाती थी॥

पूजन समाप्ति पर कोई फिर,
जप माल उन्हें दे देती थी।
कोई स्वाध्याय पुराण उठा,
तत्काल उन्हें दे देती थी॥

कोई रह भोजन शाला में,
पावन पकवान पकाती थी।
ताम्बूल वाहिनी बन कोई,
मधुरिम ताम्बूल लगाती थी॥

कोई उनको पहुँचाने को,
विश्राम-कक्ष तक चलती थी।
कोई उनके विश्राम-समय—
में बैठी पंखा झलती थी॥

गृह—पुष्प—वाटिका में कोई
भ्रमणार्थ उन्हें ले जाती थी।
औ' निशारम्भ में ही कोई,
उनका शयनाङ्क बिछाती थी।

कोई अपनी संगीत कला—
के द्वारा उन्हें रिझाती थी।
कोई निद्रा आ जाने तक
उनके पद युगल दबाती थी॥

यों रहती उनकी सेवा में,
वह दिक्कुमारियों की टोली।
जिनकी हर गर्भ-शुश्रूषा से,
प्रमुदित रहतीं रानी भोली॥

वे बिना परिश्रम त्रिभुवन पति—
का भार उठाती जातीं थीं।
निज कुक्षि मध्य युग स्रष्टा का—
आकार बनाती जातीं थीं॥

नव मास उदर में रखना था,
उन नव-युग भाग्य विधाता को।
उन जैसा यह सौभाग्य पुनः
कब मिला किसी भी माता को॥

—×—

पाँचवाँ सर्ग

होते निमित्त भर सिन्धु सीप,
स्वयमेव पनपता मोती है।
शिशु स्वीय पुण्य से बढ़ता है,
माँ गर्भ भार भर ढोती है।।

पावस ने मधु जल सिंचित कर
वसुधा की काया धो दी थी।
हो गयी शरद् के धारण के—
उपयुक्त धरा की गोदी थी॥

अतएव शरद् के आते ही,
निर्मल नदियों का नीर हुवा।
उनकी उद्धतता शान्त हुई,
एवं प्रवाह गम्भीर हुवा॥

हो गया अगस्त्योदय नभ में
रह नहीं पथों में पङ्क गया।
हो गयीं दिशाएँ भी निर्मल,
मेघों का भी आतङ्क गया॥

मिट गया तड़ागों का कल्मष,
कमनीय कुमुद भी फूल चले।
जिन कुमुद वनों में विहरण कर
कलहंस विगत दुख भूल चले॥

नव शरत्पूर्णिमा आते ही,
सबको नूतन अनुभूति हुई।
निज पूर्ण रूप में विकसित सी
उस दिन सब प्रकृति विभूति हुई॥

उस तिथि का वातावरण अतः
हर जन को मोहन मन्त्र बना।
हर प्रिय प्रेयसि से मिलने की
अभिलाषा से परतन्त्र बना॥

दिन पति के जाते ही नभ में,
अवतरित प्रपूर्ण मयंक हुवा।
शरदेन्दु-छटा की निधियों से,
सम्पन्न मही का अङ्क हुवा॥

हर प्रियतम अपनी प्रेयसि पर
बिखराने अपना राग चला।
निज प्रिय के दर्शन का कौतुक—
हर प्रेयसि में भी जाग चला॥

'सिद्धार्थ'—नृपति ने भी सोचा,
क्यों विफल आज की रात करूँ!
क्यों नहीं पहुँच कर अन्तःपुर,
'त्रिशला' से जी भर बात करूँ!

क्षण में निश्चय कर रानी के
आलय की ओर नरेश चले।
मानो कि रमा से मिलने को
उत्कण्ठित स्वयं रमेश चले॥

यों निज विचार जब महिषी से
कह मौन हुये भूपाल स्वयं।
तब उनका उत्तर देने को,
रानीं बोलीं तत्काल स्वयं॥

"प्राणेश ! आप निष्कारण ही,
क्यों मेरा मान बढ़ाते हैं!
क्यों व्यर्थ प्रशंसा कर मेरी,
मुझको अत्यधिक लजाते हैं!

बलवीर ! आपके तर्क प्रबल,
एवं हूँ अबला बाला मैं।
हे चतुर ! कहाँ से आप सदृश,
पाऊँ चातुर्य निराला मैं॥

धीमान् ! आपके सदृश मुझे
वक्तृत्व-कला का बोध नहीं।
स्वामी के वचनों का दासी,
कर सकती नाथ ! विरोध नहीं॥

अतएव सोच में पड़ी हुई,
तव सम्मुख अब क्या बोलूँ मैं!
जब हैं प्रसन्न स्वयमेव देव,
क्यों अनुनय को मुख खोलूँ मैं!

है श्रेय आपको ही उसका,
जो मिला महा सौभाग्य मुझे।
आराध्य! आपके आराधन--
से मिले जगत् आराध्य मुझे॥

यह प्राची सूर्य कहाँ से दे,
होवे यदि स्वर्ण प्रभात नहीं।
यदि रहे न सरसी में जल तो,
दे सकती वह जल जात नहीं॥

अतएव आपकी अनुकम्पा--
के लिये सदा आभारी हूँ।
नर हो आप प्रभो मेरे,
मैं मात्र आपकी नारी हूँ॥

बस, यही समझ नत करने दें,
मुझको अपना यह भाल सदा।
औ' दया दृष्टि निज आप रखें,
मुझ पर हर क्षण भूपाल सदा॥

पुष्पाञ्जलि मुझे चढ़ाने दें
अपने ममतामय भावों की।
इति करें कृपाल! कदापि नहीं,
अपनी कमनीय कृपाओं की॥

यदि भाव आपको मानूँ, तो—
अपने को कहती भाषा मैं।
यदि आप किमिच्छिक दानी तो —
हूँ याचक की अभिलाषा मैं॥

यदि न्याय देवता आप प्रभो!
तो मैं हूँ पहिली भूल स्वयं।
हृदयेश! आप यदि पूजनीय,
तो मैं तव पद की धूल स्वयं॥

यदि आप काम के रूप स्वयं,
तो मैं उसकी प्रिय भूषा हूँ।
यदि आप सुशील दिवाकर तो
मैं लजाशीला ऊषा हूँ॥

यदि आप इन्द्र-वक्षस्थल तो
मन्दार-कुसुमकी माला मैं।
राकेश आप यदि हैं तो हूँ,
रमणीय रोहिणी बाला मैं॥

अतएव धन्य वह पुण्योदय,
जिसने यह योग मिलाया है।
है धन्य कर्म भी वह जिसने,
हमको अनुरूप बनाया है॥

जिस विधि की मैं हूँ वसुंधरा,
बस आप उसी विधि मेंह मिले।
है यही हेतु जो हमको ये
दुर्लभ फल निस्सन्देह मिले॥

होते निमित्त भर सिन्धु सीप,
स्वयमेव पनपता मोती है।
शिशु स्वीय पुण्य से बढ़ता है,
माँ गर्भ भार भर ढोती है॥

पर धार उदर में निजपति को,
है मुझे अभी से मोद अहा।
पर कहाँ समायेगा यह तब
जब लूँगी उनको गोद अहा॥

वैसी पहिले है हुई नहीं,
जैसी इन दिनों उमंग मुझे।
हूँ लिये त्रिलोकीपति को पर,
हलके लगते निज अङ्ग मुझे॥

गुरु भार वहन यह जाने क्यों
लघु लगता मुझ सुकुमारी को?
आलस्य नहीं वह, जो रहता—
है गर्भवती हर नारी को॥

यों सुलभ वस्तुएँ भोगों औ'
उपभोगों के उपयुक्त सभी।
अब और बताऊँ क्या-क्या ? हो—
पातीं न यहीं उपभुक्त सभी ॥

कारण कि मुझे इन भोगों से
अब आज अधिक अनुरक्ति नहीं।
लगता है भोगाराधन तज,
मैं करूँ जिनेश्वर-भक्ति यहीं ॥

इन नश्वर इन्द्रिय-विषयों में,
अब रहा अधिक अनुराग नहीं।
लगता कि धर्म में लीन रहूँ,
लूँ राग रङ्ग में भाग नहीं ॥

बस, 'पार्श्वनाथ' का ध्यान करूँ,
जगते सोते दिन रात सदा।
दूँ बिता उन्हीं के वन्दन में,
हर सन्ध्या और प्रभात सदा ॥

अध्यात्मवाद के ग्रन्थों को
पढ़ने में प्रायः लीन रहूँ।
जीवन की एक घड़ी में भी,
मैं नाथ ! न संयमहीन रहूँ ॥

पश्चात् स्वामिनी की अनुमति—
पा बैठीं हो निर्भीक सभी।
औ' लगीं खोजने जिज्ञासा—
रखने का अवसर ठीक सभी॥

चुप उन्हें देख कर 'त्रिशला' ने,
निज मौन स्वयं ही भंग किया।
संकोच त्याग सब कहने का
उनको उपयुक्त प्रसंग दिया॥

बोलीं-"प्रश्नों के करने में,
तुम नहीं कदापि प्रमाद करो।
भय की कोई भी बात नहीं,
तुम निर्भय सब सम्वाद करो॥

कर सकती मैं हर शंका का—
भी समाधान सामोद यहीं।
चातक की प्यास बुझा सकता—
क्या जल से पूर्ण पयोद नहीं!

यह बात असम्भव आज कि अब,
हो शान्त तुम्हारी प्यास नहीं।
कारण हर शंका का उत्तर
प्रस्तुत है मेरे पास यहीं॥

मेरे समीप में रहतीं जो,
उसका कुछ तो उपयोग करो।
अवकाश काल में तुम अभिनव,
ज्ञानार्जन का उद्योग करो॥

कारण, सहचारियो ! सत् चर्चा
से है अतीव अनुराग मुझे।
एवं विशेषतः रुचता है,
गोष्ठी में लेना भाग मुझे॥

अतएव तुम्हारी जिज्ञासा—
में होगा गति-अवरोध नहीं।
तब तक तुमको समझाऊँगी,
जब तक कि तुम्हें हो बोध नहीं॥

चाहे तुम जितने प्रश्न करो,
आयेगा मुझको रोष नहीं।
स्वयमेव तुम्हें मम उत्तर से
हो जायेगा परितोष यहीं॥

'त्रिशला' के इस आश्वासन से
उनके अन्तस् की लाज गयी।
यों तो पहिले से प्रस्तुत ही—
थीं दिक्कुमारियाँ आज कई॥

कह उठी एक-'ये प्राणी क्यों
पाते हैं नाना क्लेश यहाँ ?'
महिषी बोलीं—'पापोदय से—
ही मिलते दुःख अशेष यहाँ ?

फिर प्रश्न हुवा—'दुख सह कर भी
क्यों जगता ज्ञान विवेक नहीं ?
उत्तर आया —'मोहोदय के,
रहते जाता अविवेक नहीं ॥'

शंका उपजी—'इस मोहासुर—
को क्यों तजता संसार नहीं ।
था समाधान—'वैराग्य बिना
दिखता निज हित का द्वार नहीं ॥'

सुन पूँछ उठी कोई—'कब तक,
होती वैराग्य—प्रसूति नहीं?
बतलाया—'जब तक होती है
सच्ची आत्मिक अनुभूति नहीं ॥'

फिर प्रश्न हुवा—'क्या हमें अभी—
मिल सकता मुक्ति प्रसङ्ग नहीं ।'
उत्तर था—'मुक्ति प्रदायक तप—
कर सकते नारी—अङ्ग नहीं ॥'

कह उठी एक—'क्या नारी के—
होते नर जैसे हाथ नहीं'?
स्वर आया—'होते' पर नर सा—
बल होता मन के साथ नहीं ॥'

सुन कहा किसी ने—'यों ही क्या—
हम बनी रहेंगी हीन सभी ?
रानी बोलीं—'मिल जायेगी,
नर की पर्याय नवीन कभी॥'

बोली कोई—'पर्याय न क्यों
मिलती मन के अनुकूल हमें ?'
उत्तर था—'नहीं बबूलों से—
मिल सकते चम्पक फूल हमें ॥'

फिर पूँछ उठी कोई—'कैसे—
हो तत्वों की पहिचान अभी ?'
यह ज्ञात हुवा—'सहकारी है
जिन तत्वों पर श्रद्धान अभी॥'

यह प्रश्न उठा—'क्या श्रद्धा भर—
से हो सकता उत्थान स्वयं ?'
उत्तर आया—'त्रय रत्नों में—
है प्रमुख तत्व-श्रद्धान स्वयं॥'

बोली कोई—'क्या तत्वों पर
हो सकता कोई सन्देह नहीं ?'
सुन पड़ा—'जिनेश-विवेचन में,
शंका रच सकती गेह नहीं।'

फिर कहा किसी ने—'क्यों सच ही-
होती है उनकी बात सभी ?'
उत्तर था—'केवल ज्ञान करा—
देता उनको विज्ञात सभी।'

फिर प्रश्न हुवा—क्या क्रम क्रम से—
यह ज्ञान कराता बोध उन्हें ?'
सुन पड़ा—'ज्ञान हो जाता है,
सब एक साथ अविरोध उन्हें।'

शंका उठ पड़ी—'विवेचन में—
होती न कहीं क्या भूल कभी ?'
उत्तर आया—'ध्वनि खिरती है,
सत्यार्थ-धर्म—अनुकूल सभी ॥'

फिर प्रश्न उठा—'क्या जिनवर को
होती न किसी से ममता है ?'
था समाधान—'उन वीतराग—
को रहती सबमें समता है ?'

बोली कोई—'क्या कभी उन्हें
आता प्रभुता का मान नहीं ?
स्वर आया—'उन्हें प्रतिष्ठा से
आती तक भी मुसकान नहीं।'

फिर कहा किसी ने—'क्या उनको—
पूजक से होता मोह नहीं ?'
उत्तर था—'मोह न पूजक से—
निन्दक से रहता द्रोह नहीं ॥'

फिर पूँछ उठी कोई-'लगती—
क्या उन्हें भूख औ' प्यास नहीं ?
बतलाया—'ऐन्द्रिय विषयेच्छा,
जा सकती उनके पास नहीं।'

कह उठी अन्य—'क्या काया से—
भी रखते हैं वे राग नहीं ?
समझाया—तन क्या ? जीवन से—
भी रखते वे अनुराग नहीं ?

फिर कोई पूँछ उठी—'उनको—
होता न कहीं क्या रोग कभी ?
सुन कहा—'जन्मतः होते हैं,
उनके शुचि अङ्ग निरोग सभी।'

की प्रकट किसी ने जिज्ञासा
'क्या उनको आता क्रोध नहीं ?'
झट उत्तर मिला—'किसी से वे—
रखते ही वैर विरोध नहीं ॥'

फिर बोल उठी कोई—'उनको—
क्या मोह न सकती रम्भा भी ?'
उत्तर दे दिया कि 'मानेंगे—
वे उसे शुष्क तरु खम्भा सी ।'

फिर किया किसी ने प्रश्न—'न क्या
वे होते चिन्तालीन कभी ?'
बोलीं—'होते कृतकृत्य, अतः
जगती इच्छा न नवीन कभी ।'

फिर कहा किसी ने—'क्या हमको
दे सकते वे सुख क्लेश नहीं ?
बतलाया कि 'किसी भी प्राणी को
देते सुख दुःख जिनेश नहीं ।'

फिर तर्क उपस्थित हुवा कि 'तब
क्यों उन्हें पूजता लोक सभी !
उत्तर था—'उनका गुण चिन्तन
देता चिन्ताएँ रोक सभी ।'

यों समाधान सुन रानी से,
जिनवाणी पर विश्वास हुवा।
है गर्भ हेतु इस प्रज्ञा का,
ऐसा उनको आभास हुवा॥

यों चलता रहता आध्यात्मिक-
चर्चा का सौम्य प्रवाह सदा।
जिनमें त्रिशला तो प्रमुख भाग-
रुचि से लेतीं सोत्साह सदा॥

दिखता, महिषी के गर्भ सदृश-
ही उनका ज्ञान विशाल बढ़ा।
मानो अदृश्य रह जननी को,
दिन रात रहे हों लाल पढ़ा॥

परिणाम विशेष पवित्र हुये,
सम्यक्त्व विशेष विशुद्ध हुवा।
श्रद्धा न विशेष समृद्ध हुवा,
सद्ज्ञान विशेष प्रबुद्ध हुवा॥

अतएव श्रावकाचार-नियम-
पालन में भी उत्साह बढ़ा।
श्री 'पार्श्वनाथ' के दर्शन औ'
पूजन में भक्ति प्रवाह बढ़ा॥

करतीं न उपेक्षित किंचित् भी,
कोई भी धर्म-प्रसङ्ग कभी।
उनकी तत्परता बतलाते-
थे दिनचर्या के ढङ्ग सभी॥

प्राशुक जल के ही द्वारा वे,
प्रातः प्रति दिवस नहातीं थीं।
औ' बिना प्रयोजन चुल्लू भर,
भी पानी नहीं बहातीं थीं॥

लघु अन्तराय का कारण भी,
पाते उनके गृह सन्त नहीं।
वे रहतीं कितनी सावधान?
था इसका कोई अन्त नहीं॥

स्वयमेव स्वकर से देकर वे
सत्पात्रों को आहार मधुर।
उनकी संस्तुति में कहतीं थीं,
अति विनय भरे उद्गार मधुर॥

यों धर्म-प्रसङ्ग बने रहने-
से नहीं समय का भान हुवा।
आ गया बसन्त, सुशोभित अब
'त्रिशला' का राजोद्यान हुवा॥

महिषी ने देखा, बेलों का—
मलयागत पवन नचाता है।
वह उन्हें समझ कर अबला ही,
निर्भय उत्पात मचाता है॥

नव प्राण मिले हैं वन-श्री को,
मञ्जरित प्रफुल्लित आम हुये।
पा नये मौर के सौरभ को,
ये उपवन अति अभिराम हुये॥

तज शोक अशोकों के तरुवर,
सुमनावलि पाकर झूम रहे।
झुक शरणागत लतिकाओं के,
मुख मण्डल सहसा चूम रहे॥

सन्ताप-निकन्दन सुमनों से,
चित्रित चन्दन के अङ्ग हुये।
अतएव स्वयं ही तो उनके,
वन्दन में व्यस्त विहङ्ग हुये॥

मँड़राती चपल तितलियाँ भी
नव रंग बिरंगी कलियों पर।
खग-चहक रहे हर क्यारी पर,
सब कुञ्जों पर सब गलियों पर॥

पिकियों के पञ्चम गायन से,
गुंजित अवनी आकाश हुवा।
यों लगा कि ज्यों वे कहतीं हों,
अवतरित मधुर मधुमास हुवा॥

आरक्त पलाशों की छवि पर,
अनुरक्त सुकोमल कीर दिखे।
पिक आम्र-मञ्जरी का मादक,
मधु पीने हेतु अधीर दिखे॥

नव कलियाँ दिखी लताओं में,
सरसी में अभिनव पद्म दिखे।
मकरन्द पिपासु भ्रमरियों को
ये सौरभमय मधु-सद्म दिखे॥

मतवाले वानर व्यस्त दिखे,
निज उछल कूद के खेलों में।
उनको न दिखा आकर्षण था,
विटपों से लिपटी वेलों में॥

पर मधुप-लली आसक्त दिखीं,
माधवी-कली के गालों पर।
गौरय्या गाती गीत दिखीं,
विकसित कदम्ब की डालों पर॥

अतएव परस्पर वे नृप के
गुण गातीं हुई सहास चलीं।
राजा की भेंट दिखाने को,
अब वे रानी के पास चलीं॥

अतिशय कृतज्ञता भूपति के—
प्रति टपक रही थी अङ्गों से।
तन लदा भूषणों द्वारा था,
औ' मन था लदा उमङ्गों से॥

'सिद्धार्थ' आज सिद्धार्थ हुये,
था अतः हर्ष का अन्त नहीं।
सोत्साह करायी जन्मोत्सव—
की विधि आरम्भ तुरन्त वहीं॥

शुभ समारोह करवाने के,
सामन्तों को अधिकार दिये।
सङ्गीत, नृत्य औ' नाटक के
आयोजन विविध प्रकार किये॥

शुभ कार्य क्रमों की सब रचना,
शुभ अवसर के अनुकूल हुई।
की गयी व्यवस्था अति उत्तम,
उसमें न कहीं कुछ भूल हुई॥

आरम्भ कहीं पर नृत्य हुवा,
आरम्भ कहीं पर गान हुवा।
हर कलाकार का स्वीय कला
दिखलाने को आह्वान हुवा॥

अब चलो विलोकें 'कुण्डग्राम'
कैसा उसका शृङ्गार हुवा?
देखें कि वहाँ जन्मोत्सव का
कैसा क्या क्या संभार हुवा?

हो जाओ, प्रस्तुत शीघ्र सुहृद्।
अविलम्ब लेखनी चलती है।
देखो, जन्मोत्सव की शोभा,
कैसे छन्दों में ढलती है?

—०—

सातवाँ सर्ग

जलधारा शिर पर गिरती थी
पर कँपे वीर-भगवान नहीं।
अबला होकर भी 'त्रिशला' ने—
थी जनी अबल सन्तान नहीं॥

आ उधर गर्भ से प्राची के,
दिनकर ने व्योम सजाया था।
औ' इधर भाग्य पर अपने अब,
वह 'कुण्ड ग्राम' मुसकाया था॥

था सजा न केवल राज भवन,
सब नगर सजा बाजार सजे।
सब चौक सजे, सब मार्ग सजे,
सब गेह सजे, सब द्वार सजे॥

सब उपवन सब उद्यान सजे,
सब वृक्ष सजे सब डाल सजी।
कहने का यह सारांश वहाँ,
कण कण अवनी तत्काल सजी॥

अति कुशल शिल्पियों ने कौशल-
से नगर सजा सब डाला था।
मानों, अलका की सुषमा को,
इस 'कुण्ड ग्राम' में ढाला था॥

सर्वत्र शुक्लता सदनों पर,
चूने से गयी चढ़ायी थी।
बन्दनवारों से द्वारों की-
सुन्दरता गयी बढ़ायी थी॥

रच गये अनेक विचित्र चित्र,
भीतों पर चतुर चितेरे थे।
आँगन में चौक बना वधुओं-
ने विविध प्रसून बिखेरे थे॥

धूपायन में दी गयी जला,
थी दिव्य दशांगी धूप अहो।
रख दिये गये थे ठौर ठौर,
नव मंगल कलश अनूप अहो॥

पथ दिये गये थे सींच, अतः
उड़ती दिखती थी धूल नहीं।
एवं न मलिन हो पाते थे,
दर्शक के दिव्य दुकूल कहीं॥

शुभ अगरवत्तियाँ जलने से,
था हुवा समीर पुनीत वहाँ।
पाँचों अङ्गुलियों के थापों-
से युक्त हुई हर भीत वहाँ॥

सुन्दरतम सदनों के शिखरों-
पर ध्वजा गयीं फहरायीं थीं।
जो शीतल मन्द सुगन्ध पवन,
के झोंकों से लहरायीं थीं॥

चौराहों पर अभिनव अभिनय-
शालाएँ गयीं बनायीं थी।
जो रङ्ग बिरङ्गी मालाओं-
के द्वारा गयीं सजायीं थीं॥

थे जिनमें दर्शक मण्डल की,
सुविधार्थ सौम्य सोपान बने।
औ' धूप निवारण करने को,
थे विविध विशेष वितान तने॥

सुन सकें गीत सब, इसका भी-
पर्याप्त मनोज्ञ प्रबन्ध हुवा।
महिलाएँ पृथक् विराज सकें,
इसका भी योग्य प्रबन्ध हुवा॥

अति भव्य व्यवस्था हुई सभी,
त्रुटि का न कहीं भी भान हुवा।
अवलोक जिसे हर दर्शक के,
मन में आश्चर्य महान हुवा॥

यों किसी नागरिक ने न नगर-
की सज्जा हेतु प्रमाद किया।
नृप ने अत्यन्त उदार हृदय-
से सूचित निज आह्लाद किया॥

तत्क्षण ही कारागारों से,
सब बन्दी बन्धन मुक्त किये।
पिंजड़ों से कोयल, तीतुर औ'
तोता, मैना, उन्मुक्त किये॥

ऋणियों पर जितना भी ऋण था,
वह सब का सब भी त्याग दिया।
औ' नहीं किसानों से मिलने—
वाला भी कृषि का भाग लिया॥

दस दिन के लिये समस्त करों—
का लेना बन्द कराया था।
बहुमूल्य पदार्थों का भी तो,
अतिशय ही मूल्य घटाया था॥

इन सुविधाओं से लाभ हुवा—
सिद्धार्थ-राज्य में लाखों को।
नृप की उदारता देख सफल,
माना सबने निज आँखों को॥

हर याचक हेतु किमिच्छिक भी—
धनदान दिया सोल्लास गया।
आशा से बढ़कर पा लौटा,
जो याचक उनके पास गया॥

धनदान निरन्तर होने से,
निर्धनतापूर्ण विलीन हुई।
सिद्धार्थ राज्य के गृह गृह में,
लक्ष्मी देवी आसीन हुई॥

छाया प्रहर्ष का राज्य, राज्य--
से निर्वासित दुख क्लेश हुवा।
सम्पत्ति रमा पा राजा से,
हर निर्धन व्यक्ति रमेश हुवा॥

औ' यथा योग्य उपकरणों से
सम्मानित हर विद्वान हुवा।
हर गीतकार हर नृत्यकार--
का राजकीय सम्मान हुवा॥

उन्मुक्त हृदय औ' मुक्त हस्त--
से यह धनदान प्रवाह चला।
अवलोक जिसे ही जन मन गण,
नृप का औदार्य सराह चला॥

पकवान परोसे गये मधुर
हर गौ को हर गौशाला में।
मीनों को लघु मिष्टान्न बँटे,
हर सरिता में हर नाला में॥

च ओर बिखेरे गये चने,
चुगने को विविध विहंगों को।
सुस्वादु खाद्य सामाग्री भी,
भिजवायी गयी कुरङ्गों को॥

नर से बढ़कर भी वानर दल—
को दिये गये फल केले थे।
वे भी इतने जितने वे,
खा सकते नहीं अकेले थे॥

'खाजा' 'खाजा' कह श्वानों को—
भी गये खिलाये खाजा थे।
निज सम्मुख चींटों चिटियों को
चीनी चँटवाते राजा थे॥

थे गये सिचाये वृक्ष, लता
शीतल जल भर भर गगरी में।
नर से तरु तक कोई न रहा,
भूखा प्यासा उस नगरी में॥

जनता के सभी अभावों को,
नृप ने यों प्रथम भगाया था।
फिर अन्य महोत्सव करने में,
अपना शुभ ध्यान लगाया था॥

अब तक सुन्दरतम शैली से
जा चुका नगर सिंगारा था ॥
अति कुशल शिल्पियों ने उसका,
सौन्दर्य विशेष निखारा था ॥

अतएव वहाँ आरम्भ नये,
जिनवर के यश के गीत हुये ।
सुन जिन्हें सभी श्रोताओं के,
युग कर्ण विशेष पुनीत हुये ॥

मधु ध्वनि से अम्बर के अञ्चल,
औ' वसुन्धरा की गोद भरी ।
गरुत लहरों पर लहर गयी,
स्वर लहरी यह आमोद भरी ॥

वाद्यों से निकले नादों से,
गुञ्जित सम्पूर्ण दिगन्त हुये ।
निज सपरिवार भी जिनको सुन,
प्रमुदित 'त्रिशला' के कन्त हुये ॥

तज वसन रजक हो गये खड़े,
'गण्डकी' नदी के घाटों पर ।
रोगी तक राग-विमोहित हो,
उठ कर बैठे निज खाटों पर ॥

हो नाद मधुरता पर मोहित,
पशुओं ने त्यागा तृण चरना।
पनघट पर की पनिहारिन भी,
भूली गागर में जल भरना॥

यह मधुर रागिनी सुनने का,
सबके ही मन में चाव हुवा।
सत्वर ही गान सभाओं में,
जाने का सबको भाव हुवा॥

नीरस से नीरस अन्तस में,
स्वर-रस पीने की चाह जगी।
हर नर उत्साहित हो भागा,
हर नारी भी सोत्साह भगी॥

ध्वनि सुन निकटस्थ तपोवन से,
भगकर आये मृग छोने सब।
कर गान-सुधा का पान, लगे-
वे अपनी सुध बुध खोने अब॥

पुर भरा नारियों नर से औ',
पशुओं से पुर के रछो भरे।
सब राज मार्ग औ' चौक सभी,
मनुजों से चारों ओर भरे॥

सबने अति श्रद्धा सहित वहाँ,
जिनवर के यश के छन्द सुने।
हो मुग्ध विलोके नृत्य नये,
औ' विविध वाद्य सानंद सुने॥

यों इधर अवनि नभ गूँज उठे,
नव जात जिनेश्वर की जय से।
औ' उधर सौरिगृह गूँज उठा,
मधु सोहर गीतों की लय से॥

गा मधुर झूमरी राग स्वयं,
कुछ नर्त्तकियाँ थीं झूम रहीं।
थीं जिनके सङ्ग विमोहित हर-
दर्शक की आँखें घूम रहीं॥

कुछ ठुमक ठुमक कर ठुमरी गा,
सोल्लास सलास ठुमकतीं थीं।
फिर जातीं फिर फिर फिरकी सी,
चपला सी चमक चमकती थीं॥

नट और नटी के नर्तन को,
आबद्ध कहीं पर डोरी थी।
जिस पर नटिनी निज नृत्य दिखा,
गा रही मधुरतम लोरी थी॥

अभिराम अखाड़े मध्य कहीं,
बलशाली मल्ल उतरते थे।
कुछ तो व्यायाम दिखाते थे,
कुछ मुष्टि युद्ध भी करते थे॥

नव नृत्य वानरी भालू के,
दिखलाते कहीं मदारी थे।
जिनको अवलोक कुतूहल से
बच्चे भरते किलकारी थे॥

परिहास प्रवीण विदूषक निज,
प्रहसन भी कहीं दिखाते थे।
दर्शक जिनकी लीलाओं से,
हँसते हँसते थक जाते थे॥

हो रही कहीं थी धर्म कथा,
होते थे सत् उपदेश कहीं।
हो रही कहीं थीं शास्त्र सभा,
होते थे पाठ विशेष कहीं॥

हो रही कहीं थी जिन पूजा,
होते थे विविध विधान कहीं।
जा रहे पढ़े थे स्तवन कहीं,
होते थे जिन गुण गान कहीं।

यों हर मन्दिर चैत्यालय में,
धर्मामृत की रसधार बही।
साक्षात् तीर्थ सी ज्ञात हुई,
तीर्थंकर की अवतार—मही॥

यों नहीं मात्र उस 'कुण्ड ग्राम'—
में ही उत्सव की धूम रही।
देवेन्द्रपुरी तक उस अवसर—
में थी उन्मद सी झूम रही॥

अतएव शीघ्र ही 'कुण्ड ग्राम'—
की ओर सुरों के नाथ चले।
गन्धर्व, अप्सरा, नर्तक, रथ,
गज, तुरग, वृषभ भी साथ चले॥

इस सात भाँति की सेना ने,
जो गमन समय जय नाद किया।
उसने हर देव तथा देवी—
के मन को अति आह्लाद दिया॥

'उर्वशी' 'मेनका' 'रम्भा' सब,
सुरराज संग सस्नेह चलीं।
निज दिव्य बधाई देने को,
सज धज 'त्रिशला' के गेह चलीं॥

आँगन में उनके आते ही,
अति चकित सभी के नेत्र हुये ।
देवागम द्वारा देव धाम—
से 'कुण्ड ग्राम' के क्षेत्र हुये ॥

कर दिव्य देवियों का दर्शन,
हर दर्शक को आनन्द हुआ ।
हर दृष्टि-भ्रमर ने तृष्णा से,
उनकी छवि का मकरन्द छुआ ॥

उनने गायन औ' वाद्य सहित,
आरम्भ नृत्य व्यापार किया ।
अपनी नर्तन शैली से हर,
नर-तन-मन पर अधिकार किया ॥

उनके नैपुण्य समेत किसी—
ने अपना पुण्य सराहा था ।
निज पुण्य समेत किसी ने तो,
उनका नैपुण्य सराहा था ॥

निज पूत रूप में 'जगत्पिता'—
को पाकर रानी पूत हुई ।
प्रभू के प्रभवन से राजा की,
प्रभुता, प्रभु-शक्ति प्रभूत हुई ॥

यह सोच चढ़ाने आये थे,
सुर श्रद्धा के दो फूल उन्हें।
विभु की पूजा भी करनी थी,
निज वैभव के अनुकूल उन्हें॥

पर प्रभु-दर्शन की प्रबल चाह—
थी जगी शची के दृग-मन में।
अतएव नहीं वे अधिक रुकीं,
सिद्धार्थ-भूप के आंगन में॥

जा गुप्त रूप से सौरि सदन—
में अवलोका जिन माता को।
उनके समीप में ही लेटे,
नव युग के नव निर्माता को॥

उन दोनों का दर्शन कर उनका
मन फूला नहीं समाता था।
उन नव कुमार के लेने को,
उनका करतल ललचाता था॥

अतएव जिनेश्वर की जननी—
को सुला दिया द्रुत माया से।
शिशु अन्य लिटाया मायामय,
चिपटा कर उनकी काया से॥

फिर मृदु हथेलियों में उनने,
वह सद्यः जात कुमार लिया।
निज लोचन चषकों से उनका,
रूपामृत बारम्बार पिया॥

पश्चात् उन्हें ले सौरि-सदन,
से बाहर वे सामोद चलीं।
कुछ नहीं किसी को ज्ञात हुवा,
वे प्रभु से भर निज गोद चलीं॥

जिनपति का दर्शन कर सुरपति-
का भी अन्तस्तल मोहा था।
तत्काल शची से बालक ले,
सुरपाल अधिकतम सोहा था॥

अब जिनवर का अभिषेकोत्सव,
करने को उन्हें उमङ्ग हुई।
सत्वर 'सुमेरु' की ओर चले,
सुर-सेना उनके सङ्ग हुई॥

सब देव जिनेश्वर का तन ही,
अब बारम्बार निरखते थे।
वे निर्निमेष निज नयनों से,
उनका रूपामृत चखते थे॥

जिनेन्द्र को लेकर इन्द्राणी का निर्गमन

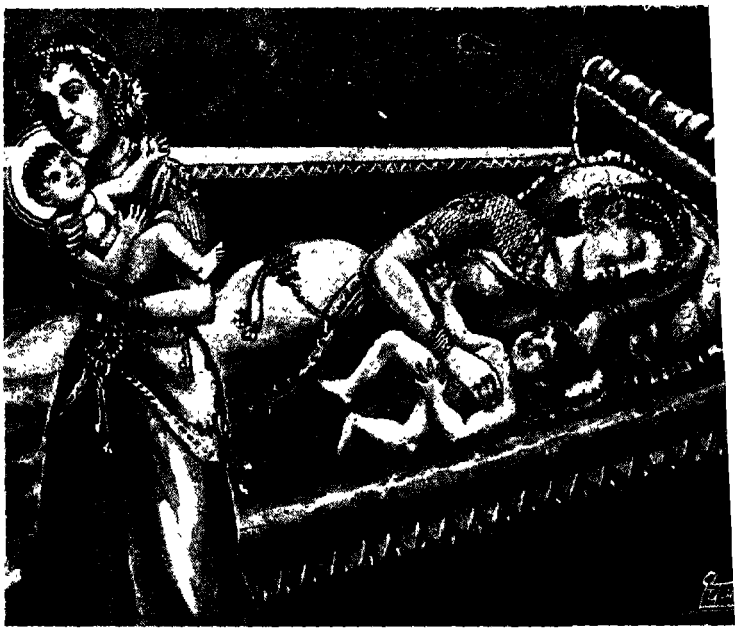

पश्चात् उन्हें ले सौरि सदन,
से बाहर वे सामोद चलीं ।
कुछ नहीं किसी को ज्ञात हुवा,
वे प्रभु से भर निज गोद चलीं ॥

(पृष्ठ २१

उन वीतराग का दर्शन कर—
भी सबके मन में राग हुवा।
उन महा भाग के भाग्योदय—
में सब का कुछ कुछ भाग हुवा ॥

थे गोद लिये 'सौधर्म नाम—
के सुरपुर के सुरराज उन्हें।
'ईशान' स्वर्ग के इन्द्र स्वयं—
थे छत्र लगाये आज उन्हें ॥

सित चमर ढुराते 'सानत्' औ,
'माहेन्द्र' स्वर्ग के राजा थे।
थीं नाच रहीं किन्नरियाँ औ,
गन्धर्व बजाते बाजा थे ॥

मङ्गलमय गीतों को गातीं,
चल रहीं सङ्ग इन्द्राणी थीं।
सोल्लास निकलती सब देवों—
के मुख से 'जय' 'जय' वाणी थी ॥

पर उधर कहाँ क्या होता है ?
यह नहीं जानतीं रानी थीं।
उनने क्या ? नहीं किसी ने भी,
यह बात अभी तक जानी थी ॥

औ' इधर सभी वे उस 'सुमेरु'
के 'पाण्डुक' वन को देख रुके।
थे जहाँ अनेक जिनेन्द्रों के
हो पुण्य जन्म-अभिषेक चुके॥

अभिषेक प्रसाधन प्रस्तुत थे,
उस अवसर के अनुरूप वहाँ!
थी पाण्डुक शिला बनी जिसपर,
सिंहासन था मणि रूप वहाँ॥

उस पर ही गये विराजे थे,
वे तीर्थंकर भगवान अहो।
औ' अगल बगल सुरनायक थे,
'सौधर्म' और 'ईशान' अहो॥

ध्वज, छत्र, चमर, घट, मुकुर, व्यजन,
ठौना औ' झारी नाम मयी।
इन आठों मङ्गलमय द्रव्यों—
से हो वह शिला ललाम गयी॥

इस सब उत्सव के केन्द्र बिन्दु,
'त्रिशला' के राज दुलारे थे।
उनके ही लिये सुरों ने ये,
उपकरण जुटाये सारे थे॥

बज रहे दुन्दुभी बाजे थे,
कर रहीं सुरीं थीं लास मधुर।
हो रही व्याप्त थी मण्डप में,
कालागुरु की शुभ वास मधुर॥

'सौधर्म' इन्द्र ने निज कर में,
अब प्रथम कलश सोल्लास लिया।
ईशान इन्द्र ने भी वैसा-
ही अन्य कलश सविलास लिया॥

उस समय वहाँ जो हर्ष हुवा,
वह जा सकता किस भाँति लिखा?
सब वर्णन वह ही लिख सकता,
जिसको वह सब प्रत्यक्ष दिखा॥

पर वर्णन कल्पित मत मानें,
सब कुछ सम्भव सुर-लीला को।
चाहे तो क्षण में सोने का-
कर दें मिट्टी के टीला को॥

आरम्भ हुई अभिषेक किया,
पर प्रभु को पहुँचा क्लेश नहीं।
बाठको! हमारे से निर्बल-
थे उनके देह-प्रदेश नहीं॥

जल धारा शिर पर गिरती थी,
पर कँपे वीर भगवान नहीं।
अबला होकर भी 'त्रिशला' ने—
थी जनी अबल सन्तान नहीं॥

प्रभु के तन पर गिर वह पवित्र,
जल राशि विशेष पवित्र हुई।
निज सँग अशोक दल गिरने से,
उसकी छवि चित्र विचित्र हुई॥

अष्टाधिक एक सहस्र कलश—
से यों अभिषेक विशाल हुये।
पर नहीं अल्प भी क्षोभित वे,
'त्रिशला' माता के लाल हुये॥

फिर देवों द्वारा चन्दनादि—
की अग्नि जलायी शुद्ध गयी।
जिसकी पावनतम ज्वाला में,
डाली भी धूप विशुद्ध गयी॥

पश्चात् इन्द्र ने अष्ट द्रव्य—
से पूज पूर्ण अभिषेक किया।
तदनन्तर उन शुभ परम ज्योति'—
को गोदी में साविवेक लिया॥

इन्द्राणी ने उनके तन पर,
शुचि लेप भक्ति के साथ किया।
औ' तिलक लगा कर अति शोभित,
उन 'लोक तिलक' का माथ किया॥

'त्रैलोक्य मुकुट' उन प्रभुवर के,
मस्तक पर मुकुट पिन्हाया फिर।
उन जग के चूड़ामणि के शिर-
पर चूड़ामणी लगाया फिर॥

नयनों में अञ्जन आँजा पर,
वे नहीं अल्प भी क्षुब्ध हुये।
कर्णों में कुन्डल पहिनाये,
पर वे न अल्प भी लुब्ध हुये॥

मणिहार कण्ठ में डाला पर,
उससे न उन्हें कुछ क्षोभ हुवा।
कटि में कटि सूत्र पिन्हाया पर,
उसका न उन्हें कुछ लोभ हुवा॥

शृंगार शची ने पूर्ण किया,
पर हुवा नाथ को त्रास नहीं।
भय भय के मारे आया था,
उन निर्भय प्रभु के पास नहीं॥

प्रभु-काया स्वतः मनोहर थी,
अब और मनोहर ज्ञात हुई।
उसकी सुषमा सुरनायक को-
भी तो विस्मय की बात हुई॥

इससे उनने संख्या सहस्र
की तत्क्षण अपनी आँखों की।
पर समझा इस छवि-दर्शन को,
पर्याप्त न आँखें लाखों भी॥

उन 'परम ज्योति' की काया की-
सुन्दरता का था अन्त नहीं।
अतएव तृप्त हो पाये थे,
वे इन्द्राणी के कन्त नहीं॥

उनने श्रद्धा से गद्गद हो,
संस्तुति करते इस भाँति कहा।
'हे नाथ! जगत के सब जीवों-
को सुखद आपका जन्म अहा॥

ले गोद आपको धन्य हुई-
है आज हमारी गोद प्रभो।
औ' मना जन्म कल्याणक यह,
हो रहा हमें अति मोद प्रभो॥

अभिषेक आपका कर जल से
हो गयी पूर्ण, जो चाह रही।
शृंगार आपके तन का कर,
इन्द्राणी भाग्य सराह रही॥

हे विभो! हमारी गिरा सफल,
हो गयी आपकी 'जय' 'जय' कह।
हो गया आपके आगम से,
पावन 'सुमेरु' गिरि निश्चय यह॥

पर्याप्त समय हो चुका, इसी--
क्षण 'कुण्ड ग्राम' को जाना है।
अतएव यहाँ अब और अधिक,
दो क्षण भी नहीं लगाना है॥"

यह कह 'ऐरावत' पर उनने,
प्रभु को बैठा प्रस्थान किया।
अविराम पहुँच कर 'कुण्ड ग्राम',
राजाङ्गण शोभावान किया॥

द्रुत इन्द्राणी ने रानी की,
निद्रा हर बालक सौंप दिया।
औ कहा—"न व्यापे पुत्र-विरह,
इससे मैंने यह छद्म किया॥

जगवन्द्य आप हैं क्यों कि आप--
ने जग को यह जगदीश दिया।
योगीश योगियों हेतु दिया॥
विद्वानों को वागीश दिया॥

अभिषेक हेतु यह छद्म हुवा,
इसमें न आप सन्देह करें
इन 'परम ज्योति' की पुण्य ज्योति
से ज्योतिर्मय निज गेह करें॥

यह कह इन्द्राणी मौन हुई,
सुन रानी को आनन्द हुआ।
आओ। अब देखें सुरपति का—
जो नाट्य वहाँ सानन्द हुवा॥

———

आठवाँ सर्ग

लगता था, धर्म स्वयं उनके
मन वचन कर्म पर बसता है।
औ' जन्म काल से ही जीवन—
संगिनी बनी समरसता है॥

होगा सुरपति का नाटक यह-
चर्चा बिजली सी फैल गयी।
क्षण भर में राजभवन से यह,
हर मार्ग गयी हर गैल गयी॥

जो व्यक्ति जहाँ पर जैसे थे
वे शीघ्र वहाँ से भाग चले।
द्विज पोथी पत्रा छोड़ चले,
क्षत्रिय असि, बरछी त्याग चले॥

निज ग्राहक तज कर वैश्य भगे,
औ' शूद्र चाकरी तज भागे।
सब यही सोचते थे कैसे-
मैं पहुँचूँ सबसे ही आगे॥

वधुएँ उतावली में अपने,
शिशु तक तो लेना भूल गयीं।
कुछ भूषण उलटे पहिन गयीं,
कुछ उलटे पहिन दुकूल गयीं॥

कटिसूत्र मेखला का भी तो,
कुछ समझ सकीं थीं भेद नहीं।
काजल का तिलक लगा कर भी,
कुछ को न हुवा था खेद कहीं॥

थीं बनी दर्शिका, दर्शनीय—
पर बन उनके ही भेष गये।
था बँधा घाँघरा चोटी से,
नीवी से बाँधे केश गये॥

यो सजकर गयीं युवतियाँ थीं,
सज्जित हो युवक समाज गया।
कारण, था उसका जन्म विफल,
जो नहीं वहाँ था आज गया॥

भर गया अखिल राजाङ्गण था,
जनता अब नहीं समाती थी।
पर दृष्टि जहाँ तक जाती थी,
आती ही भीड़ दिखाती थी॥

कुछ ही क्षण में अति शीघ्र वहाँ,
लग गया विलक्षण मेला था।
मानो नर गति के चित्रों का
संकलन हुवा अलबेला था॥

निश्चित क्षण में सुरपति का वह,
नाटक आरम्भ समोद हुवा।
जिससे शिक्षा भी मिली, साथ—
ही सात्विक मनोविनोद हुवा॥

हो चित्र लिखित से देख रहे—
थे सारे दर्शक मौन वहाँ।
यह नहीं किसी को चिन्ता थी,
हैं मेरे परिजन कौन कहाँ?

प्यारी प्यारे को भूली थी,
प्यारे का भूली प्यारी थी।
बेटा भूला महतारी को,
बेटा भूली महतारी थी॥

पलकें न एक भी बार गिरें,
सब का था मात्र प्रयास यही।
कारण ऐसा सौभाग्य पुनः
मिलने का था विश्वास नहीं॥

बस, यही सोचकर सब ही ने,
सुस्थिर अपना हर योग किया।
मन वचन काय में से न किसी—
का भी अन्यत्र प्रयोग किया॥

सब सुरपति कृत अभिषेकोत्सव—
के दृश्य समक्ष निरखते थे।
अवलोक जिन्हें यों लगता था,
मानों प्रत्यक्ष निरखते थे॥

देखा, कैसे उस सौरि सदन—
से बाहर वे जिनराज गये।
देखा, कैसे 'ऐरावत' पर,
बैठा कर ले सुरराज गये॥

अभिषेक-अनतर कैसे सब,
शृंगार किया इन्द्राणी ने?
कैसे आये वे 'कुण्ड ग्राम?
यह सब देखा हर प्राणी ने॥

सुरपति ने प्रभु के पूर्व जन्म—
दिखलाना फिर आरम्भ किया।
वे किस किस गति में हो आये?
बतलाना यह प्रारम्भ किया॥

दिखलाया, पिछले भव में ये,
'पुरुखा' भील कहलाये थे।
मुनि के सम्मुख तज मांस जन्म—
'सौधर्म' स्वर्ग में पाये थे॥

पश्चात् 'भरत' के सुत हो ये,
उस समय 'मरीचि' कहाये थे।
कर सांख्य-प्रचार वहाँ, पञ्चम—
ब्रह्माख्य स्वर्ग में आये थे॥

आ पुनः वहाँ से 'कपिल' नाम—
के ब्राह्मण को सन्तान हुये।
वय पाने पर परिव्राजक हो,
सुर पुर में देव महान हुये॥

तदनन्तर 'भारद्वाज'-भवन—
में पुत्र रूप में आये थे।
हो सांख्य यती वे जन्म पुनः
'सौधर्म' स्वर्ग में पाये थे॥

पश्चात् यहाँ आ पुत्र रूप—
में 'अग्निभूति' के गृह जनमें।
हो साधु पुनः उत्पन्न हुये,
वे स्वर्गलोक के आँगन में॥

फिर इनने 'गौतम' ब्राह्मण के—
गृह में आकर अवतार लिया।
कर सांख्य प्रचार यहाँ भी तो,
फिर सुरपुर का शृङ्गार किया॥

ले जन्म 'साङ्कृत्यायन' के गृह
अति पावन उसका धाम किया।
कर ग्रहण त्रिदण्डी दीक्षा फिर
ब्रह्माख्य स्वर्ग अभिराम किया॥

पर सुरपुर से भी तो 'नगोद'
में ले इनका दुर्भाग्य गया ।
एकेन्द्रिय काय वनस्पति में,
ले आया फिर सौभाग्य नया ।।

पश्चात् 'राजगिरि' नगरी में,
'शाण्डलि' के विप्रकुमार हुये ।
'माहेन्द्र' नाम के सुरपुर में,
जाकर फिर देवकुमार हुये ।।

कर आयु पूर्ण फिर 'विश्वभूति'
राजा के राजकुमार हुये ।
तप के प्रभाव से फिर दसवें-
सुरपुर के ये शृङ्गार हुये ।।

जनमे 'पोदनपुर'-राजा के,
नारायण पद अभिराम मिला ।
पर विषयलीनता से फिर से,
सातवें नरक का धाम मिला ।।

गङ्गा तट के 'वनिसिंह' अचल-
में इनको सिंह-शरीर मिला ।
हिंसा-फल से फिर प्रथम नरक-
की वैतरिणी का नीर मिला ।।

तदनन्तर 'हिमगिरि' पर इनको,
वनराज-देह का लाभ हुवा ।
सम्यक्त्व यहाँ पा स्वर्ग गये,
सुर 'सिंह केतु' अमिताभ हुवा ॥

फिर जनमे 'पंख' खगेश्वर के,
'कनकोज्जवल' नाम ललाम हुवा ।
तप तप कर देह तजी, इनसे-
शोभित 'लान्तव' सुरधाम हुवा ॥

फिर 'अवधपुरी' में 'वज्रसेन'-
औ' 'शीलवती' के लाल हुये ॥
कर पुनः समाधि मरण, दसवें-
सुरपुर में देव विशाल हुये ॥

फिर 'पुण्डरीकिणी' में इनको,
चक्री का पद सविलास मिला ।
जिसको तज कर तप तपने से,
द्वादशम स्वर्ग में वास मिला ॥

पश्चात् 'नन्दिवर्धन' नृप के,
सुत हुये 'नन्द' शुभ नाम हुवा ।
तीर्थंकरत्व बँध गया, पुनः-
शोभित 'अच्युत' सुरधाम हुवा ॥

इस समय वहीं से आकर यह,
त्रिशला-गृह किया पुनीत अहा।
यों सबने देखा, कैसा इन-
प्रभुवर का अखिल अतीत रहा॥

अवलोक पूर्वभव उनके सब,
मन में आनन्द अपार हुवा।
समझा, कितने भवधारण कर,
यह तीर्थंकर-अवतार हुवा!

तदनन्तर ही आरम्भ किया,
सुरपति ने ताण्डव नृत्य स्वयं।
अवलोक जिसे हर दर्शक ने,
निज दृग माने कृतकृत्य स्वयं॥

अति भावपूर्ण मुद्राओं मय,
इस ओर नृत्य व्यापार चला।
उस ओर हरेक प्रशंसाकर,
मन ही मन बारम्बार चला॥

जो नर्तन करते दिखते थे,
क्षण पूर्व एक सुरपाल वहाँ।
वे वैसे ही होकर अनेक,
दिखने लगते तत्काल वहाँ॥

कुछ किन्नरियाँ भी तो नर्तन—
करतीं थीं उनके पास वहीं।
कुछ महिला मण्डल के सम्मुख,
थीं नाच रहीं सोल्लास वहीं॥

भू पर नर्तन करने वाली,
उड़ दिखने लगती अम्बर में।
फिर वही नाचने लगती थी,
अवनी पर आकर क्षण भर में॥

कुछ तड़ित् रूप में नर्तन कर,
नयनों को अधिक लुभातीं थीं।
कुछ इन्द्र-अँगुलियों पर स्वनाभि—
रख नचतीं हुईं दिखातीं थीं॥

उनके इस कौशल से सबने,
स्वर्गीय सुखों का भान किया।
नरगति में रहते हुये सुरों—
के अति सुख का अनुमान किया॥

इस इन्द्र-प्रदर्शित नर्तन ने,
हर मन पर पूर्ण प्रभाव किया।
कुछ ने तो अधिक प्रभावित हो,
सुर बनने तक का भाव किया॥

पर राज दम्पती को सब से,
बढ़ हर्ष हुवा अनुभूत अहो।
कारण, इस सभी महोत्सव का,
कारण था उनका पूत अहो॥

'सिद्धार्थ'—मोद का आज नहीं,
कोई भी तो परिमाण रहा।
अवलोक जन्म कल्याणक को,
माना उनने कल्याण महा॥

अपना मातृत्व विशेष सफल,
माना था 'त्रिशला' माता ने।
निज माता उन्हें बनाया था,
नव युग के नव निर्माता ने॥

इससे सुख से उन दोनों का,
मन फूला नहीं समाता था।
सुर पूज्य नरोत्तम से उनका,
अत्यन्त निकट का नाता था॥

नाती स्वरूप पा तीर्थंकर,
'चेटक' को हुवा प्रमोद स्वयं।
सोचा, 'त्रिशला' का पूत खिला,
मैं पूत करूँगा गोद स्वयं॥

वह ताण्डव नृत्य निरखने की,
सबको थी और उमङ्ग अभी।
सब चाह रहे थे, यह नर्तन—
क्रम चले, न होवे भङ्ग अभी॥

पर उनकी चाह अपूर्ण रही,
क्रमशः नर्तन-गति मन्द हुई।
औ' गन्धर्वों के वाद्यों की,
ध्वनियाँ भी क्रमशः बन्द हुई॥

प्रायः समाप्त सा ही था अब,
देवों का नियत नियोग सभी।
पर चित्र लिखित से खड़े हुये—
थे अभी वहाँ पर लोग सभी॥

हाँ, अभी इन्द्र को तीर्थंकर—
का पुण्य नाम भी रखना था।
जो भी तो हर नर-नारी को,
श्रद्धा से अभी निरखना था॥

तत्काल 'वीर' इस संज्ञा से,
शोभित वे जिन राज हुये।
यों निज नियोग कर पूर्ण सभी,
गमनोद्यत वे सुरराज हुये॥

गन्धर्व—अप्सरा—नर्तक सँग,
वे सुरपुर के सम्राट् चले।
अब यहाँ नरों के द्वारा कृत,
जन्मोत्सव विविध—विराट चले॥

जिनको विलोक कर लोचन निज,
सफलित मानेहर प्राणी ने।
पर जिनके सारे वर्णन में,
ली मान हार कवि वाणी ने॥

ऐसे अनेक आयोजन थे,
चलते रहते दिन रात वहाँ।
सम्बन्धी आते रहते थे,
ले ले सुन्दर सौगात वहाँ।

आते ही प्रथम बधाई सब,
देते थे राजा रानी को
फिर अपलक देखा करते थे,
उन भावी केवल ज्ञानी को॥

कारण, न विलोका था कोई,
बालक इतना अभिराम कहीं।
लगता था त्रिभुवन की सुषमा—
ने बना लिया हो धाम यहीं॥

नख से लेकर शिख तक के सब,
अङ्गों का रूप निराला था।
पर निर्विकार मुख मण्डल तो,
अत्यन्त मोहने वाला था॥

जिसने भी दर्शन किया, उसी—
ने अपनी दृष्टि सराही थी।
उन 'परम ज्योति' से निज गोदी
ज्योतिर्मय करनी चाही थी॥

'सिद्धार्थ' सदृश ही था उनके,
नयनों भौंहों का रूप अहो।
पर अधर, भाल, हनु लगते थे,
'त्रिशला' के ही अनुरूप अहो॥

उनके तन की कोमलता की—
उपमा के योग्य सरोजन थे—
उन जैसी सुन्दर अन्य वस्तु—
की कवि कर सकते खोज न थे॥

हर समय विहँसते रहते थे,
वे नहीं कभी भी रोते थे।
चिन्तित चन उनका दर्शन कर,
अपनी चिन्ताएँ खोते थे॥

शुभ नियत समय पर जात कर्म—
सम्पन्न सविधि सोल्लास हुवा।
फिर चन्द्र, सूर्य के दर्शन का,
भी शुभ उत्सव सविलास हुवा॥

दस दिन तक यों ही महोत्सवों—
के ये अभिराम प्रवाह चले।
अवलोक जिन्हें आबाल-वृद्ध,
अपना सौभाग्य सराह चले।

वह 'कुण्ड ग्राम' ही नहीं, अपितु—
थी सजी पुरी 'वैशाली' भी।
वह थी निसर्ग से सजी किन्तु,
अब हुई विशेष निराली ही॥

बारहवें दिन 'सिद्धार्थ' नृपति—
ने सबका किया निमन्त्रण था।
प्रिय सुहृद्-स्वजन-सामन्तों से,
भर गया सकल राजाङ्गण था॥

नृप ने भोजन ताम्बूल वसन—
से सबका अति सत्कार किया।
तदनन्तर सबके सम्मुख यों,
घोषित निज उद्गार किया॥

"यह पुत्र गर्भ में आते ही,
मम कुल में वैभव कोष बढ़ा।
धन धान्य स्वर्ण की वृद्धि हुई,
औ' गोधन का भी घोष बढ़ा॥

इससे ही इसको 'वर्धमान'
कहना उपयुक्त दिखाता है।
कारण, गुण के ही सदृश नाम,
भी रखना मुझको भाता है॥

यदि मेरा सोचा हुवा नाम,
यह आप सभी को उचित लगे।
सबको ही इसका उच्चारण—

करना प्रिय एवं ललित लगे॥
औ' अर्थ व्याकरण द्वारा भी
यह सबको सार्थक जान पड़े।
निर्दोष कहें यदि इसको सब,
इस परिषद् के विद्वान् बड़े॥

तो नामकरण हो इसका यह,
जो मैंने अभी सुझाया है।
अब सब दें अपनी सम्मति यदि
यह नाम सभी को भाया है॥"

इतना कह नृप चुप हुये, सभी—
ने कहा—"नाम यह सुन्दरतम।
हो 'वर्धमान' ही नाम करण,
करते समोद अनुमोदन हम॥

सब की सहमति पा नामकरण—
हो गया, सभी सन्तुष्ट हुये।
वे 'वर्धमान' संवर्धित हो,
क्रमशः अतिशय परिपुष्ट हुये॥

वय संग हुई थी वर्धमान,
उनके तन की सुन्दरता अब।
थे मति, श्रुति, अवधि जनमते ही,
पर इनमें हुई प्रखरता अब।

सित चन्द्रकला सा उनका नित—
बढ़ना सबको सुखदाता था।
उन 'वर्धमान' के वर्धन से,
नृप-वैभव बढ़ता जाता था॥

उनकी परिचर्या हेतु नियत—
थी पाँच धात्रियाँ, दास कई।
खेला करते थे बाल मित्र,
हर समय उन्हीं के पास कई॥

वे सदा प्रफुल्लित रहते थे,
मुख होता कभी उदास न था।
सुर पुर से आने के कारण,
रोने का भी अभ्यास न था॥

इससे ही उन्हें खिलाने में,
थकती न एक भी दासी थी।
खो देती उनकी सुस्मिति में,
हर दासी निजी उदासी थी॥

क्रमशः निज कोमल घुटनों के—
बल चलने वे जगदीश लगे।
प्रिय मधुर वाक् में कहने निज
भावों को वे वागीश लगे॥

जिस दिन 'त्रिशला' ने प्रथम बार
उनको भूपर चलते देखा।
उस दिन की उनकी पुलकन का
कवि आज लगाये क्या लेखा!

उनका संस्पर्शन तक तत्क्षण,
आमोद विलक्षण देता था।
इससे समोद ही गोद उन्हें,
हर सज्जन परिजन लेता था॥

वे जो क्रीड़ाएँ करते, वे-
होतीं निर्मल निर्दोष सभी।
मानो शैशव में ही उनको-
था मिला ज्ञान का कोष सभी॥

वैभव की गोदी में पलने-
पर भी तो उनमें दम्भ न था।
प्रिय अधिक परिग्रह था न उन्हें,
रुचता भी अति आरम्भ न था॥

वे सदा सामने की धरणी-
को देख चरण निज धरते थे।
औ' नहीं किसी भी बाल मित्र-
के सङ्ग कलह वे करते थे॥

उनके मुख से कटु शब्द कभी,
सुन पायी कोई धाय नहीं।
औ' उन्हें किसी के सङ्ग कभी,
करते देखा अन्याय नहीं॥

वे किसी वस्तु के पाने को-
भी नहीं कदापि अधीर दिखे।
निज शैशव में भी वृद्धों सम,
अतिधीर वीर गम्भीर दिखे॥

था गया जन्म में नाम धरा,
फिर धरा किसी ने नाम नहीं।
पाया न किसी भी बालक में,
उन सम स्वभाव अभिराम कहीं॥

उठते थे उनके अन्तस् में,
शुभ उच्च विचार पुनीत सदा।
अतएव हीनता का अनुभव,
उनमें होता न प्रतीत कदा॥

जो बने किसी को दुख कारक,
रुचता वह मनो विनोद न था।
जो बने किसी का सुखहारक,
भाता ऐसा आमोद न था॥

वे नहीं तोड़ते कलियाँ तक,
निष्फल न बहाते पानी तक।
करते न कभी विकथाएँ तक,
कहते न असत्य कहानी तक॥

उन पुण्यवान् को छू न सका-
था साधारण भी पाप कदा।
उनकी चेष्टाएँ सब शुभ,
होतीं थीं अपने आप सदा॥

हिंसात्मक वृत्ति न सपने में-
भी आती उनके पास कभी।
वे चरणों से न कुचलते थे,
उद्यानों की भी घास कभी॥

निपुणों के बिना सिखाये ही,
उनमें आया नैपुण्य अहो।
गुणियों से शिक्षा लिये बिना
वे हुये स्वयं ही गुण्य अहो॥

उनकी वय के ही सङ्ग स्वयं,
सम्यक्त्व ज्ञान भी बढ़ता था।
उनके तन के ही सङ्ग स्वयं,
संयम ऊपर को चढ़ता था॥

लगता था, धर्म स्वयं उनके,
मन वचन कर्म पर बसता है।
औ' जन्म काल से ही जीवन-
सङ्गिनी बनी समरसता है॥

जन देख सुरुचि उनकी अँगुली-
निज दाँतों तले दबाते थे।
एवं दयालुता देख सभी,
आश्चर्य चकित रह जाते थे॥

अतएव अल्प वय में भी वे,
प्रख्यात, प्रवीण, प्रबुद्ध हुये।
जिसने भी उनका दर्श किया,
उसके परिणाम विशुद्ध हुये॥

उनके समक्ष आ जाते ही,
विभ्रम संशय सब भगता था।
सुस्पष्ट विषय हो जाता था,
सत्यार्थ ज्ञान भी जगता था॥

वे एक बार निज मित्र जनों-
के सङ्ग खेलते थे निर्भय।
इतने में आये दो चारण,
मुनिनायक 'संजय' और 'विजय'॥

इनको जीवों के पुनर्जन्म-
में था विभ्रम का मान हुवा।
उनका यह संशय हरने में,
असफल था हर विद्वान हुवा॥

पर 'वर्धमान' के दर्शन का,
उन पर अति प्रबल प्रभाव हुवा।
मति का भ्रम मिटा, मिली सन्मति,
सुस्पष्ट स्वयं सब भाव हुवा॥

यह दे उन्होंने 'वर्धमान'—
का नाम सभक्ति रखा 'सन्मति।
निःसंशय हो फिर चले गये,
गन्तव्य दिशा को दोनों यति॥

इस घटना से अति मुदित हुये,
'सिद्धार्थ' पिता, त्रिशला' माता।
प्रायः यों सुत का पुण्य निरख,
दोनों का अन्तस् हर्षाता॥

यों क्रमशः बढ़ कर आठ वर्ष—
के अब वे 'वीर' कुमार हुये।
लो, देखो, देव-परीक्षा-नद,
किस कौशल से वे पार हुये॥

———

नवाँ सर्ग

विद्यालय में बिना प्रविष्ट हुये,
विद्या वारिधि वे 'वीर' हुये।
गुरु बिना 'जगद्गुरु बने तथा,
जिन धर्म-धुरंधर-धीर हुये ॥

निज देव-सभा में एक दिवस,
सुख से देवेन्द्र विराजे थे।
अप्सरीं नाचती थीं सम्मुख,
बजे रहे मधुरतम बाजे थे ॥

संगीत सुधा रस पीने को,
बैठी भी इन्द्राणी थीं।
औ' अन्य देवियों देवों संग,
सुन रहीं गीत की वाणीं थीं ॥

कुछ समय अनन्तर ही गीतों-
की गति पर पूर्ण विराम लगा।
औ' पारस्परिक सुचर्चा से,
मुखरित होने वह धाम लगा ॥

सुरपति ने बालक 'सन्मति' की
सन्मति औ' शक्ति सराहीं थी।
सुन जिसे परीक्षा 'सङ्गम' सुर-
ने उनकी लेनी चाही थी ॥

अतएव पहुँच कर 'कुण्ड ग्राम'
एवं निज सर्प शरीर बना।
वह आया वहाँ जहाँ क्रीड़ा-
करते थे वे गम्भीर मना ॥

देव-परीक्षा

अतएव उतर करवे उसके,
फण पर निर्भय आसीन हुये।
जननी की शय्या सम उस पर,
क्रीड़ा करने में लीन हुये ॥

(पृष्ठ २४८)

मम भार स्वतन पर होने से,
इसका मन अतिशय क्षुब्ध हुवा।
लगता है ऐसा जैसे वह
हो मम साहस पर लुब्ध हुवा॥

अतएव लौट अब आओ सब
देगा न तुम्हें यह त्रास यहाँ।
यह सुन कर सहचर लौट तुरत,
आ गये वीर के पास वहाँ॥

ये 'वीर' नाम के वीर नहीं,
यह 'संगम' सुर को ज्ञात हुवा।
उनका गुरु भार सहन करने—
में अक्षम उसका गात हुवा॥

यह नहीं सहन कर पाता अब,
यह देख 'वीर' वे उतर पड़े।
औ' बोले—'भागो शीघ्र उधर,
मन अभी तुम्हारा जिधर पड़े॥"

यह सुनते ही निज देव--रूप—
में परिवर्तित वह उरग हुवा।
कुछ समय पूर्व का काल नाग,
सुर रूप सुदर्शन सुभग हुवा॥

औ' बोला—वीर शिरोमणि ! तव
चरणों में शीश झुकाता हूँ।
मैं यहाँ परीक्षक बन आया,
औ' बना प्रशंसक जाता हूँ॥

सुन तव सराहना सुरपति से,
सुर पुर से था तत्काल चला।
तव शक्ति—परीक्षा लेने को,
ही था मैं ऐसी चाल चला॥

पर तव बल सिद्ध सुरेश्वर के—
कहने के ही अनुकूल हुवा।
औ' शक्ति—परीक्षा लेने का
मेरा सारा मद धूल हुवा॥

तुम 'वीर' नहीं हो 'महावीर'
मैं यह ही नाम रखाता हूँ।
जो भूल हुई वह क्षमा करें,
अब निज निवास को जाता हूँ॥"

यों उसने 'सन्मति' की संस्तुति—
में प्रकट किये उद्गार स्वयं।
हो अन्तर्धान पुनः सुरपुर—
को किया तुरन्त विहार स्वयं॥

इस घटना द्वारा हुवा सभी—
को उनके बल का निश्चय था।
सब समझ गये उन 'महावीर'—
का हृदय पूर्णतः निर्भय था॥

था समय अधिक हो चुका अतः—
सब नगरी को स्वच्छन्द चले।
थी 'वीर' कृपा से विपद् टली,
अतएव सभी निर्द्वन्द चले॥

मित्रों ने कर दी प्रकट नृपति—
से वह सब घटना जाते ही।
नृप ने भी सुत—पुरुषार्थ सुना,
छाती से उन्हें लगाते ही॥

यह बात नगर में फैल गयी,
जनता उनका बल जान गयी।
वह 'वीर' समझती थी अब तक,
पर 'महावीर' अब मान गयी॥

वे इसी नाम से ख्यात हुये,
घटना का यह परिणाम हुवा।
जनता को उनके सब नामों—
से बढ़ कर प्रिय यह नाम हुवा॥

यों उनको 'इन्द्र' 'जनक' 'मुनि' 'सुर'—
से नाम अभी थे चार मिले।
संभव है पञ्चम नाम उन्हें,
अब सत्वर इसी प्रकार मिले॥

वे महापुरुष थे जन्मजात,
शैशव से करुणा धारी थे।
थी अभी कुमारवस्था हो,
पर अद्वितीय उपकारी थे॥

सुन पड़ा एक दिन उन्हें—"एक—
मतवाला गज स्वाधीन हुवा।
हो पूर्ण निरंकुश जनता को,
पीड़ा देने में लीन हुवा॥

उसके उत्पातों से नगरी—
के सारे व्यक्ति अधीर हुये।
है नहीं किसी में साहस जो,
उसका विकराल शरीर छुये॥

चरणों से कुचल अनेक पुरुष,
उसने अतिशय अन्धेर किया।
कर जीवन से खिलवाड़, पथों—
पर लगा शवों का ढेर दिया॥"

सुनते ही वे नागरिकों का-
भय हरने को सन्नद्ध हुये।
मतवाले हस्ती को अपने,
वश करने को कटिबद्ध हुये॥

सब बोले-"गज मतवाला है,
अतएव न जाएँ नाथ! वहाँ।
निश्चिन्त विराजें राजभवन-
में हम सुभटों के साथ यहाँ।

पर 'महावीर' अति निर्भय थे,
उनमें भय का तो नाम न था।
पर कष्ट देखते हुये उन्हें,
माता सुख से विश्राम न था॥

इससे न किसी की बात सुनी,
निर्भय उस गज के पास गये।
निज संग न अन्य लिये सैनिक,
एकाकी ही सोल्लास गये॥

गज उन्हें देखते ही सहसा,
अत्यन्त उग्र हो कुपित हुवा।
आ रहे उसी के पास स्वयं,
यह देख द्विरद कछ चकित हुवा॥

था ज्ञान न उसको 'महावीर'–
की महावीरता का, बल का।
सोचा, 'मेरा क्या कर सकता,
यह राजकुमार अभी कल का !'

अतएव हुवा अब पहले से–
भी बढ़कर आग बबूला था।
'मैं अभी पछाड़े देता हूँ',
यह सोच हृदय में फूला था॥

इनमें देवों से अधिक शक्ति,
इनका न उसे था बोध अभी।
वह समझा था साधारण नर,
इससे विशेष था क्रोध अभी॥

सोचा, 'यम के ही सम्मुख ले–
आया इसका दुर्भाग्य इसे।
अब मृत्यु-गोद में सोने का,
मिल जायेगा सौभाग्य इसे॥

यह सोच वेग से झपटा वह,
पर 'महावीर' निर्भीक रहे।
उस क्षण पुरुषार्थ पराक्रम के,
वे अनुकरणीय प्रतीक रहे॥

हस्ती ने अपनी शुण्ड उठा,
आक्रमण किया उन 'सन्मति' पर।
उस समय उन्हें आ गयी हँसी,
उस पशु की पशुता दुर्मति पर॥

वह शुण्ड पकड़कर ही उस पर,
चढ़ने वे 'वीर' कुमार लगे।
यह देख दूर से ही दर्शक,
करने उनकी जयकार लगे॥

वे बैठ गये गज-मस्तक पर,
जनता ने फेंकीं मालाएँ।
वातायन से उन पर पुष्प वृष्टि,
कर चलीं नगर की बालाएँ॥

यों शत्रु बना जो हस्ती था,
वह ही अब उनका मित्र बना।
जो हिंस्र वृत्ति अपनाये था,
वह करुणा सिक्त पवित्र बना॥

यह घटना सुनकर 'त्रिशला' ने—
भी अनुभव अति आमोद किया।
ज्यों अन्तःपुर में आये वे,
त्यों उन्हें उठा निज गोद लिया॥

उस दिन से ही 'अतिवीर' नाम-
भी उनके लिये प्रयुक्त हुवा।
जो उनके अति वीरत्व हेतु,
अतिशय ही तो उपयुक्त हुवा ॥

यों प्रायः नित्य असाधारण,
गुण प्रकटित होते रहते थे।
जो उनके भावी जीवन की,
पावन गरिमा को कहते थे ॥

था अद्वितीय ही ज्ञान उन्हें,
आगम का और पुराणों का।
अविरोध विवेचन करते थे,
हर नय का, सकल प्रमाणों का ॥

अवलोक योग्यता उनकी यह,
विद्वान् सभी चकराते थे।
बन जाते उनके चेला जो,
उनके गुरु बनने आते थे ॥

तत्वों की व्याख्या करने की-
थी उनकी रीति निराली ही।
इससे न मात्र वह 'कुण्डग्राम',
पर गर्वित थी 'वैशाली' भी ॥

पटुतर्क शास्त्रियों ने उनके,
तर्कों को स्वयं सराहा था।
दार्शनिकों ने उनसे दर्शन—
शास्त्रों को पढ़ना चाहा था॥

लगता था, मानों सरस्वती—
को ही उनसे थी प्रीति हुई।
हैं मेरे प्राणाधार यही,
थी ऐसी उसे प्रतीति हुई॥

था हेतु कदाचित यही कि जो,
स्वयमेव उन्हें गुण लाभ हुये।
संगीत, काव्य औ' चित्रकला—
सब में पटु वे अमिताभ हुवे॥

इतिहास गणित के ज्ञाता भी,
वे 'त्रिशला' माँ के लाल हुये।
उन 'स्वयं बुद्ध' की बुद्धि देख
आनन्दित अति भूपाल हुये॥

निर्दोष वाक्य वे कहते थे,
लिपि भी अति सुन्दर लिखते थे।
औ' वाद्य बजाने में भी तो
वे अद्वितीय ही दिखते थे॥

देवी देवों तक के स्वरूप—
में भी फैला अन्धेर यहाँ।
पुजते हैं नद नाले पर्वत,
रवि, शशि, पत्थर के ढेर यहाँ॥

सर्वत्र मान है नर का ही,
पाती न समादर नारी है।
औ' मात्र भोग सामग्री ही,
समझी जाती बेचारी है॥

यों वीर सोचते रहते थे,
जाकर निर्जन में नित्य कहीं।
देखो, अस्ताचल मध्य अधिक,
अब ठहरेगा आदित्य नहीं॥

—×—

दसवाँ सर्ग

थे युवक हुये पर ज्ञात अभी,
उनको यौवन का मर्म न था।
उनसे विवाह की चर्चा भी—
करना साधारण कर्म न था।

जग दशा सोच यों 'सन्मति' में,
सन्मति जग रही अनूठी थी।
औ' उधर पुत्र के परिणय को,
माता की ममता रूठी थी॥

निज भावी पुत्र-वधू चुनने—
में ही आता आनन्द उन्हें।
सपने में दिखने लगते थे
मन के ये अन्तर्द्वन्द उन्हें॥

निज सम्मुख राजसुताओं को
देखा करतीं मुद्रित पलकें।
कुछ की होती पतली कटि औ,
कुछ की होतीं लम्बी अलकें॥

पर 'महावीर' से गुप्त अभी,
वे रखतीं ये व्यापार सभी।
कारण, उनको ही करना था,
इस पर कुछ और विचार अभी॥

निज सुता 'वीर' को देना, थे—
कह चुके अभी नर पाल कई।
औ'नित्य सामने आती थी,
चित्रावलि प्रातःकाल नयी॥

सुन्दर चित्रों का ढेर लगा—
रहता था उनके पास सदा।
जिनके गुण दोषों पर चिन्तन
वे करतीं थीं सोल्लास सदा॥

अतएव किसी को अस्वीकृत—
करना थी लघुतम बात उन्हें।
कारण, तन रचना-सुषमा का
वैशिष्ट्य सभी था ज्ञात उन्हें॥

राजाओं के सन्देशे भी,
मिलते थे बारम्बार उन्हें।
पर स्वयं टालती रहतीं थीं,
कौशल से किसी प्रकार उन्हें॥

केवल न भूप ही उत्सुक थे,
मोहित थीं उनकी बालाएँ।
वे भावुकता में गूंथ लिया—
करतीं थीं नित वर मालाएं॥

अभिलाष उन्हीं की कर करतीं—
थी 'मोहनीय' का बन्ध कई।
करना न चाहतीं थीं उनके
अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध कई॥

पर वे न जानतीं थीं, हमसे—
है रुष्ट हमारा भाग्य हुवा।
केवल न हमीं से, हर नारी—
से 'सन्मति' को वैराग्य हुवा॥

वे मुक्ति-मोहनी पर मोहित,
इसका न उन्हें था भान हुवा।
अनभिज्ञ 'वीर' के मन से रह
उनका मन था अनजान हुवा॥

कुछ 'महावीर' की सुषमा सुन—
ही उन पर अधिक लुभायीं थीं।
पर उनकी दशा विलक्षण थी,
जो उन्हें निरख भर पायीं थीं॥

पर 'वीर' कभी सुन्दरियों की,
सुन्दरता पर न लुभाये थे।
उनने नारी के चित्रों की—
भी ओर न नेत्र उठाये थे॥

नारी में आकर्षण होता;
इसका न उन्हें आभास हुवा।
इस अनासक्ति को देख स्वयं,
आश्चर्य नमग्न विलास हुवा॥

क्या रूप वासना का होता ?
इसकी न उन्हें अनुभूति हुई।
उनमें आसक्ति जगाने में,
असफल साम्राज्य विभूति हुई ॥

घेरे रहते सुख भोग उन्हें,
पर बन न सके वे भोगी थे।
योगों के साधन के अभाव—
थे, पर वे मन से योगी थे ॥

चौबीस, वर्ष की आयु हुई,
पर मुख शिशु जैसा भोला था।
जाता न जननि के सिवा किसी
नारी से उनसे बोला था ॥

थे युवक हुये, पर ज्ञात अभी
उनको यौवन का मर्म न था।
उनसे विवाह की चार्चा भी—
करना साधारण कर्म न था ॥

वे दृढ़ थे अपने निश्चय पर
करते थे कभी प्रमाद नहीं।
चाहे जो होता रहे जहाँ।
उनको था हर्ष विषाद नहीं ॥

यह वीतरागता 'त्रिशला' को
जैसे ही सहसा भान हुई।
वैसे ही उनकी आशा की,
अधखिलीकली कुछ म्लान हुई॥

पर कहा मोह, ने माता का--
कहना अवश्य वह मानेगा।
जननी की इच्छा के विरुद्ध,
कोई भी कार्य न ठानेगा॥

इस नव विचार के आते ही,
मन फूला फिर न समाया था।
तत्काल उन्होने महावीर,—
को पास बुला बैठाया था॥

पश्चात् कहा--"रह गयी शेष
अब थोड़ी आयु हमारी है।
अतएव चाहती कहना वह
जो मैंने बात विचारी है॥

यों तो चाहे कहती न इसे,
पर मान रहा है मोह नहीं।
यह मेरा कोमल अन्तस् भी—
तो मातृ-हृदय है लोह नहीं॥

मुझको है ज्ञात, इसी भव में —
पाना है निश्चित मोक्ष तुम्हें।
हो तीन ज्ञान के धारक तुम,
इससे कुछ भी न परोक्ष तुम्हें॥

बस, यही विचार दबाये थी,
मन में ही स्वीय उमङ्ग अभी।
औ' अब तक नहीं उठाया था,
मैंने यह दिव्य प्रसङ्ग कभी॥

इसको कहने का लोभ किन्तु,
मन आज सका है त्याग नहीं।
अतएव मौन रह पाता है,
मेरे मन का अनुराग नहीं॥

औ' तोड़ आज अब बन्धन सब,
मुखरित मेरा यह प्यार हुवा।
जो नहीं चाहिये कहना, वह—
कहने को व्यग्र दुलार हुवा॥

विश्वास मुझे है तुमको भी
यह अपनी माता प्यारी है।
हो भले ज्ञान में हीन किन्तु
जननी तो यही तुम्हारी है॥

बस, यही सोच तव सम्मुख मैं,
अपनी अभिलाषा रखती हूँ ।
औ' आज इसी के द्वारा अब,
तव जननी-भक्ति परखती हूँ ॥

तो सुनो ध्यान से, बेटा ! अब,
निज मां के मुख्य मनोरथ को ।
स्वीकार करो तुम 'आदि नाथ'-
के द्वारा प्रचलित ही पथ को ॥

परिणयन 'सुनन्दा' 'सुमंगला'-
से कर उनसे अनुराग किया ।
दे दो कन्या सौ पुत्र उन्हें,
दोनों का सफल सुहाग किया ॥

यों प्रथम बने वे रमा-रमण,
तदनन्तर उनने राज्य किया ।
फिर रमा तथा साम्राज्य उभय,
परित्याग पूर्ण वैराग्य लिया ॥

यह मार्ग उन्हीं का अपना अब,
तुम सुख दो मेरे प्राणों को ।
यदि कहो उपस्थित अभी करूँ,
मैं ऐसे अन्य प्रमाणों को ॥

निज कन्या देना चाह रहे,
मको अगणित राजा रानी ।
अगणित कन्याएँ चाह रहीं,
मैं बनूँ तुम्हारी पटरानी ॥

एवं सुख भोग गृहस्थी के,
मुनि बनना रीति पुरानी भी ।
इससे न चाहिए तुमको अब,
करना कुछ आनाकानी भी ॥

मैं चिर से आश लगाये हूँ,
अतएव मुझे न निराश करो ।
परिणय की स्वीकृति दे बेटा !
पूरी मेरी अभिलाष करो ॥

यह बात मान लो तो मैं भी,
तव जननी भक्ति सराहूँगी ।
जो तुम्हें रुचेगी उससे ही,
मैं तुमको शीघ्र विवाहूँगी ॥

यों मैं निश्चित कर चुकी एक,
कन्या अनुरूप तुम्हारे ही ।
गुण औ' स्वभाव सुन्दरता में,
अभिराम अनूप तुम्हारे सी ॥

विश्वास मुझे, हो जायेगा—
तुमको भी उससे प्रेम स्वयं।
औ' प्रकृति मिलेगी दोनों की,
होगा दोनों का क्षेम स्वयं॥

वह नख से शिख तक सुन्दर है,
काया का रङ्ग मनोहर है।
आकार करूं क्या वर्णित मैं,
उसका हर अङ्ग मनोहर है॥

उसमें नारी के सुगुण सभी,
लावण्य, शील औ' लज्जा भी।
रुचि भी अत्यन्त परिष्कृत है,
मोहक रहती तन-सज्जा भी॥

उस जैसी छवि की अन्य सुता,
मिल सकती कहीं न लाखों में।
जिस दिन से देखा, उस दिन वे,
वह झूल रही मम आंखों में॥

होते अतीव ही आकर्षक,
उसके सब क्रिया कलाप स्वयं।
यदि तुम उसको लो देख, पड़े,
तो तुम पर उसकी छाप स्वयं।

तन जैसा मन भी निर्मल है,
करती है वार्तालाप मधुर।
मुख से मोती सी झरती है
शब्दावलि अपने आप मधुर ॥

मैंने उसके ही संग अभी,
परिणय की बात चलायी है।
औ' उसकी माता तथा पिता—
की भी तो स्वीकृति आयी है॥

'जितशत्रु' कलिंग महीपति हैं
उनकी है राजदुलारी यह।
औ' नाम 'यशोदा' द्वारा ही,
विश्रुत है राजकुमारी यह ॥

अतएव इसी के सँग परिणय,
स्वीकृत ऐ मेरे लाल! करो।
वर रूप बनाकर चलो तथा
स्वीकृत उसकी वरमाल करो ॥

सम्बन्ध यही सर्वोत्तम है,
स्वीकार इसे सोल्लास करो।
सन्देह करो मत इसमें कुछ,
मम बातों पर विश्वास करो ॥

उद्देश्य पूर्ण वह करना है,
जो लेकर जग में आया हूँ।
जो धर्म प्रचारण करने को,
यह तीर्थंकर पद पाया हूँ॥

कुण्ठित सी दया अहिंसा को,
है केवल मुझसे आशा यह।
मैं उनकी पीड़ा दूर करूं,
हर पीड़ित की अभिलाषा यह॥

हो रहा पतन नैतिकता का,
इसको भी मुझे उठाना है।
निज प्रेम न केवल एक प्रिया,
हर प्राणी हेतु लुटाना है॥

देखो कि 'नेमि' ने पशुओं का—
क्रन्दन सुन त्यागे थे कङ्गण।
इस भाँति मौर को फेंका था,
मानो हो विषधर का ही फण॥

'श्री कृष्ण' न उनको रोक सके,
समझा यदुवंशी थके कई।
पर लिया 'द्वारिका'-राज्य नहीं,
ओ' वरी न 'राजुल' रूप मयी॥

थी सुनी सारथी के मुख से,
उनने पशुओं की करुण कथा।
देखी न लोचनों द्वारा थी,
वह उनकी अन्तिम मरण व्यथा॥

पर इतने से ही विरत हुये,
माना न किसी का भी कहना।
औ' क्षण भर के भी लिये नहीं,
स्वीकार किया गृह में रहना॥

पर आज निरन्तर पशुओं का
चीत्कार सुनायी देता है।
उनके रोदन सँग मन्त्रों का
उच्चार सुनायी देता है॥

यह देख मुझे भी लगता है
यह राज भवन अब कारा सा।
मेरा ही पौरुष अब मुझको,
प्रायः करता धिक्कारा सा॥

मैं नहीं चाहता सदा रहूँ,
इस पिंजड़े का ही कीर बना।
उन्मुक्त विचरने को रहता—
है मेरा हृदय अधीर बना॥

इससे परिणयन कराना अब,
मेरे पथ के अनुकूल नहीं ।
मैं अतः किसी भी कन्या के–
दृग में डालूँगा धूल नहीं ॥

निज पथ में मान रहा, नागिन-
के सम नारी के केशों को ।
इससे हे माँ ! मैं पूर्ण नहीं,
कर पाता तव आदेशों को ॥

मेरा जो कुछ भी निश्चय था,
वह मैंने निस्सङ्कोच कहा ।
करना अब पुनर्विचार नहीं,
सब कुछ सम्यक ही सोच कहा ॥

लो मान, किसी भी कान्ता का–
बनना है मुझको कन्त नहीं ।
करना निवास इस राजभवन–
में भी जीवन पर्यन्त नहीं ॥

इससे अब हार मँगाएँ मत,
गहनें भी आप गढ़ायें मत ।
औ' मुझे विवाह कराने का,
भी पाठ कदापि पढ़ायें मत ॥

वर की भूषा में मुझे नहीं,
देखेगा कुण्डन नगर कभी।
औ' नहीं कहेंगे 'प्रिये' किसी—
को भी मेरे ये अधर कभी॥

कह नहीं रहा भावुकता वश,
पालूंगा ये उद्‌गार सदा।
कर रहा आपके सम्मुख प्रण,
रहने के हेतु कुमार सदा॥

दें आप आशीष हिमाचल सा,
मैं अपने प्रण पर अचल रहूँ।
निज पथ से रवि शशि टलें भले,
पर मैं निज पथ पर अटल रहूँ॥

कुछ कष्ट आपको यदि मेरे,
निश्चय ने पहुँचाया हो।
औ' ध्यान विनय का रहते भी,
यदि कुछ अप्रिय कह आया हो॥

तो क्षमा करें औ' पुत्र वधू—
पाने को अब ललचायें मत,
अवलोक कुमार मुझे अपना,
सुकुमार शरीर सुखाएं मत॥

हे माँ! न आज तक कभी आप—
ने मेरी कोई हठ टाली।
विश्वास अतः, गत अन्य हठों—
सी यह हठ जायेगी पाली॥

यों 'महावीर' ने 'त्रिशला' से,
सूचित निज सकल विचार किये।
जो कई दिनों से सोच रहे—
थे प्रकट वही उद्गार किये॥

माता की ममता विफल हुई,
सुन सुत के नये विचारों को।
माना उस समय वृथा उनने,
अपने सारे अधिकारों को॥

छिन गया हृदय से क्षण भर में,
सासू बनने का चाव सभी।
लुट गये पुत्र हित नवल वधू—
ले आने के भी भाव सभी॥

औ' व्यर्थ राजकन्याओं के—
वे सुन्दर सुन्दर चित्र लगे।
निष्फल विवाह हित सज्जित वे,
आभरण, वसन औ' इत्र लगे॥

'सिद्धार्थ' कथन को सावधान—
हो सुनते रहे विरागी वे।
पर द्रवित न राज्य-प्रलोभन से
हो सके अहो! बड़भागी वे॥

अपना वक्तव्य समाप्त सभी—
कर ज्यों ही चुप नरराज हुये॥
त्यों उनसे निज निश्चय कहने—
को उद्यत वे युवराज हुये॥

बोले कि "आपको मम वचनों—
से होगी यदपि निराशा ही!
पर मुझे उचित ही लगता है,
कह देना निज अभिलाषा भी॥

हे तात! राज्य के भोगों से,
है मुझे अल्प भी प्रीति नहीं।
औ' क्षणिक चञ्चला लक्ष्मी पर
मुझको अणुमात्र प्रतीति नहीं॥

अतएव राज्य-संघर्षों में
करना न शक्ति अवरुद्ध मुझे।
कारण, पाना है मोक्ष राज्य,
कर निज कर्मों से बुद्ध मुझे।

इस राज्य रमा से नहीं किन्तु
है मुक्ति रमा से प्रेम मुझे।
औ' प्राप्त उसे ही करने में,
दिखता है अपना क्षेम मुझे॥

ये राज्य-भोग सब लगते हैं,
मुझको प्राणान्तक रोगों से।
इससे मुझको किंचित भी तो,
अनुराग नहीं इन भोगों से॥

इस राजभवन में रहना भी,
अब मुझे भार सा लगता है।
निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनने को
मन बारम्बार उमंगता है।

निज का पर का हित करने को,
मेरा अन्तस् अकुलाता है।
नर-पशु का क्रन्दन रोदन यह
अब मुझसे सुना न जाता है॥

अजमेध-यज्ञ की बेला में,
जब बलि के अज चिल्लाते हैं।
तब मुझको ऐसा लगता है,
मानो वे मुझे बुलाते हैं॥

जब अश्व मेघ के समय अश्व,
करते हैं करुण विलाप कहीं।
तो मुझको लगता, इसी समय—
जा रोकूँ मैं यह पाप वहीं॥

मानवता थर थर काँप रही,
मानव के किया कलापों से।
सुकुमार अहिंसा झुलस रही,
हिंसानल के सन्तापों से॥

अतएव अहिंसा का प्रचार—
करने की है अभिलाष मुझे।
अविलम्ब रोकना यज्ञों में
होने वाला पशु-नाश मुझे॥

है यही हेतु, जो भाते हैं—
मुझको ये भोग विलास नहीं।
औ' राजमुकुट को लेने की
मुझको किंचित् भी प्यास नहीं॥

राज्यासन पाने की लिप्सा—
से मेरा चित्त मलीन नहीं।
इससे कदापि सिंहासन पर
मैं होऊँगा आसीन नहीं॥

सिंहासन क्या ? इन्द्रासन भी,
कर सकता मुझको लुब्ध न अब ।
यह 'कुण्डग्राम' क्या ? अलका का,
वैभव कर सकता क्षुब्ध न अब ॥

ध्रुव सत्य मान लें आप इसे,
साम्राज्य कदापि न लूँगा मैं ।
औ' अधिक दिनों इस, राजभवन,
में भी अब नहीं रुकूँगा मैं ॥

यह राज्य त्याग वैराग्य-राज्य–
अब मैं अविलम्ब सम्हालूँगा ।
दे हर प्राणी को अभयदान,
षट् काय प्रजा को पालूँगा ॥

राजा बन नहीं मिटाया जा–
सकता जनता का क्लेश कभी ।
कारण, न किसी को सच्चा सुख,
दे सकते राज्यादेश कभी ॥

जिस राज्य-सम्पदा को सुख का,
आवास समझता लोक स्वयं ।
मैं मान रहा हूँ, उसको ही–
मधु लिप्त खड्ग की नोक स्वयं ॥

पा राज्य न कोई तृप्त हुवा,
इनसे पनपा है लोभ सदा ।
औ मात्र राज्य सत्ताओं से, ॥
ही बढ़ा प्रजा में क्षोभ सदा ॥

प्रोत्साहन भीषण युद्धों को,
भी मिलता इनके द्वारा है ।
जिनमें लाखों की हत्या से'
बहती शोणित की धारा है ॥

छल, कपट, प्रवञ्चन बढ़ते हैं,
आश्रय विश्वास न पाता है ।
सुख भोग विलास पनपते हैं,
तप संयम पास न आता है ॥

इनकी छाया में हो पाता
मानवता का निर्वाह नहीं ।
पर सुख से क्रीड़ा रत रहती—
है दानवता सोत्साह यहीं ॥

यह ही न सगे भ्राताओं में—
बढ़ता रहता विद्वेष यहाँ ।
स्वयमेव पिता की हत्या कर
बनते हैं पुत्र नरेश यहाँ ॥

जीवन अशान्त कर देते हैं,
उठ अगणित अन्तर्द्वन्द यहाँ ।
दुर्व्यसन सभी औ' दुर्गुण सब,
जम कर रहते सानन्द यहाँ ॥

निज स्वार्थ-सिद्धि ही करने में,
लगती है सारी शक्ति यहाँ,
दारिद्रय, क्षुधा, निष्क्रियता की,
ये ही करते अभिव्यक्ति यहाँ ॥

यों राजसिंहासन बनते हैं,
जनता को कटु अभिशाप यहाँ ।
राजा के हर अन्याय उसे,
सहने पड़ते चुपचाप यहाँ ॥

दूँ एक वाक्य में कह, तो यह—
पापों की ही चटशाला है ।
इसके भीतर तम ही तम, बस,
बाहर दिख रहा उजाला है ॥

अतएव अलंकृत राजमुकुट—
से करना तात ! न शीश मुझे ।
इस 'कुण्ड ग्राम' का नहीं, अपितु-
बनना जग का जगदीश मुझे ॥

अपने चेतन का सब कल्मष,
धो बनना चिन्मय शुद्ध मुझे।
और रज्य शत्रु से नहीं, आत्म-
रिपुओं से करना युद्ध मुझे ॥

इससे ले राज्य स्वयं पथ में,
फैलाऊँगा मैं शूल नहीं ।
अपने ही हाथों मैं अपने–
दृग में डालूँगा धूल नहीं ॥"

युवराज 'वीर' का निश्चय सुन,
राजा को दुःख विशेष हुवा।
रानी की इच्छा जैसा ही–,
असफल उनका उद्देश हुवा ॥

अब किन्तु उपाय न था कोई,
इससे धारण की समता ही।
प्रभु-हृदय प्रभावित करने की,
उनमें न रही थी क्षमता ही ॥

कारण, कुमार के कहने में,
उनको यथेष्ट था सार दिखा।
अतएव उन्हें अब और अधिक,
समझाना भी निस्सार दिखा ॥

अतएव उन्होंने पुनः नहीं,
छेड़ा यह राज्य प्रसङ्ग कभी।
कारण, न 'वीर' पर चढ़ सकता—
था कोई भी तो रङ्ग कभी॥

यों गृह में रहते हुये उन्हें
बीते उनतीस बसन्त अभी।
माँ और पिता के कारण पर
वे बन न सके थे सन्त अभी॥

वे एक दिवस थे बैठे रख
माथे पर दायाँ हाथ स्वयं।
इतने में मूक रुदन सुनकर,
ठनका सा उनका माथ स्वयं॥

वे क्षण भर में ही समझ गये,
पशु बलि दी जाती हाय! कहीं।
कुछ मूकों दीन निरीहों पर
होता अनुचित अन्याय कहीं॥

देवी की भेंट चढ़ाने को
होता है अज--संहार कहीं।
जगदम्बा को सन्तति के शिर
जा रहे दिये उपहार कहीं॥

मानव ने निर्बल पशुओं के,
शोणित से खेली होली है।
बलिदान हुई मख—वेदी में,
जीवित पशुओं की टोली है॥

यह समझ दया से सिहर उठे,
सोचा, मैं कैसा क्षत्रिय हूँ?
क्यों त्राण क्षतों का करने को
मैं बना न अब तक सक्रिय हूँ?

इस नव विचार के आते ही,
उनका अन्तस् संक्षुब्ध हुवा॥
वैराग्य—कमल—मधु पीने को,
उनका मन मधुकर लुब्ध हुवा॥

अब राजभवन द्रुत तजने में—
ही दिखा स्वयं का क्षेम उन्हें।
निस्सार लगा 'सिद्धार्थ'—पिता'
'त्रिशला'—माता का प्रेम उन्हें॥

सब भौतिक बन्धन व्यर्थ लगे,
उनको इतना था क्षोभ हुवा।
प्रत्येक परिग्रह से उनका—
मन पूर्णतया निर्लोभ हुवा॥

जिन-मुनि-मुद्रा अपनाने में—
ही उन्हें स्वपर का त्राण दिखा।
औ' पञ्च महाव्रत पालन में—
ही उन्हें स्वपर कल्याण दिखा॥

वे क्यों कि परिग्रह द्वारा हर—
सकते थे जग का त्रास नहीं।
जलनिधि निज जल से हर सकता—
है किसी पुरुष की प्यास नहीं॥

सब भूषण दूषण से भासे,
भूषा भूसा सी ज्ञात हुई।
निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनना—
अब उन्हें सरलतम बात हुई॥

अपने पावन कर्त्तव्यों का—
था आज उन्होंने ज्ञान किया।
अपने अभीष्ट को पाने किया।
सम्यक् पथ था पहिचान लिया॥

उनके मानस से करुणा की
ऐसी निर्झरिणी आज बही।
जिसकी गति कुण्ठित कर सकते—
थे विघ्नों के गिरिराज नहीं॥

देखो, वैराग्य बढ़ाने को
क्या क्या विचार अब आते हैं ?
निज अवधिज्ञान में उन्हें पूर्व
भव कैसे आज दिखाते हैं ?

किस भाँति भावना द्वादश का
वे मन में चिन्तन करते हैं ?
किस भाँति विरक्ति-किशोरी में,
यौवन के चिन्ह उभरते हैं ?

संक्षेप रूप में ही कवि को,
यह सारा वर्णन करना है।
प्रभु-चिन्तन-सागर को छन्दों-
की लघु गागर में भरना है॥

बारहवाँ सर्ग

किसका रहता यह राज्य विभव ?
राजा भी रहता कौन यहाँ ?
चलता रहता है काल-चक्र,
सब देखा करते मौन यहाँ ॥

एकाकी 'वीर' विराजे थे,
नासा पर दृष्टि झुकाये थे।
इस समय उन्हें संस्मरण स्वतः,
निज पूर्व जन्म हो आये थे॥

या भील-जन्म से अब तक का,
हर जन्म उन्हें तत्काल दिखा।
था मोहक देव स्वरूप दिखा,
नारकी रूप विकराल दिखा॥

'नन्दन वन' का भी दृश्य दिखा,
'वैतरिणी' की भी कीच दिखी।
पर्याय उन्हें प्रत्येक उच्च—
से उच्च नीच से नीच दिखी॥

देखा, तज स्वर्ग निगोद गया,
औ' कई बार ही कीट हुवा।
कर साठ लाख यों जन्म मरण,
'नारायण' धार किरीट हुवा॥

हो सिंह निरन्तर हत्या की,
'चक्री' हो जय षट् खण्ड किया।
'क्षेमङ्कर' मुनि से प्राप्त पुनः
मैंने यह रत्न करण्ड किया॥

तीर्थंकरत्व का बन्ध किया,
फिर मैं सोलहवें स्वर्ग गया।
देवेन्द्र हुवा, फिर प्राप्त यहाँ,
यह तीर्थंकर पद किया नया॥

यों देखा, पुण्य-सुधा भी पी,
औ' पापों का भी गरल पिया।
देखा विमान भी सुरपुर का,
अनुभव नरकों का पटल किया॥

उनकी विरागता और बढ़ी,
इन पूर्व भवों की गाथा से।
वैराग्य-दिवाकर की किरणें—
सी निकलीं उनके माथा से॥

वे लगे सोचने निज मन में,
मैं देख चुका भूगोल सभी।
औ' पाप-पुण्य के द्वारा मैं,
ले चुका दुःख सुख मोल सभी॥

दुर्गन्ध नरक की भी सूँघी,
सूँघी मन्दार-सुगन्ध तथा।
बाँधी 'निगोद' की आयु, किया—
तीर्थंकरत्व का बन्ध तथा॥

हो सिंह जीव-हत्याएं कीं,
मैंने गंगा के घाटों पर
हो चक्रो भी साम्राज्य किया,
बत्तिस सहस्र सम्राटों पर ॥

चरणों से कुचला गया कभी
मैं होकर पथ की घास अहो।
औ' कभी बैठ इन्द्रासन पर
सुख भोगे हैं सोल्लास अहो ॥

सुर, नर, पशु, नर्क चतुर्गति में,
अब तक अनादि से घूम चुका ।
सह चुका यातना नरकों की
औ' मचा स्वर्ग में धूम चुका।

हो हिंसक निर्मम जीव कभी,
मैंने की हिंसा घोर अहो।
औ' कभी अहिंसक मुनि होकर
मैं बढ़ा दया की ओर अहो ॥

क्रमशः ये दृश्य सभी उनके,
शुचि अवधि ज्ञान में चमक गये।
गत सभी भवों के दृश्य उन्हें,
चल चित्र सदृश ही झलक गये ॥

वे लगे सोचने, कर्मों ने—
ये क्या क्या नाच नचाये हैं ?
मैंने जग-नाटकशाला में—
ये क्या क्या स्वाँग रचाये हैं ?

पापोदय से 'पुरुखा' भील—
हो मैंने पापाचार किया।
औ' पत्नी सहित अहिंसा व्रत—
मैंने मुनि से स्वीकार किया ॥

व्रत फल स्वरूप मैं 'भरत' नाम—
के चक्री की सन्तान हुवा।
मम पिता 'भरत' को दीक्षा के
लेते ही केवल ज्ञान हुवा ॥

मम चाचा 'बाहुबली' ने भी
शिवनगरी को प्रस्थान किया।
मम बाबा 'ऋषभ' जिनेश्वर ने—
भी शोभित मोक्षस्थान किया ॥

पर मुनि के पद से डिगने से
मेरी अब तक यह रही दशा।
अब तक इन आठों कर्मों के
दृढ़तम बन्धन में अहो फँसा ॥

इस चिन्तन से उनकी विरक्ति--
का रूप और अवदात हुवा।
पर राग, द्वेष औ' ममता पर
सहसा ही उल्कापात हुवा॥

भय के मारे मोहादिक सब
दुर्भाव सर्वथा दूर हुये।
भय, गर्व, अरति, आश्चर्य, खेद,
चिन्तादिक चकनाचूर हुये॥

द्वादश अनुप्रेक्षा[1] भाने में,
अब लगी न किंचित देर उन्हें।
कोई भी बाधक तत्व नहीं'
पाये इस क्षण में घेर उन्हें॥

सोचा, अमरत्व नहीं पाते--
हैं अमर कहा भी देव कभी।
हो जाते नष्ट सुरेश्वर औ'
चक्री आदिक स्वयमेव सभी॥

हो जहाँ न मैंने जन्म लिया,
ऐसा है कोई देश नहीं।
रह नहीं सका मैं इन्द्र सदा,
रह सका सदैव नरेश नहीं॥

१—अनित्यानुप्रेक्षा

औ' नहीं रहेगा बना सदा,
मेरा यह सुन्दर देह अहो।
अन्यत्र अलभ सुन्दरता का,
जो है लोकोत्तर गेह अहो॥

[२]कोई इसको न बचा सकता,
इसमें किंचित् सन्देह नहीं।
विपदा की बेला आने पर
दिखलाता कोई स्नेह नहीं॥

आदीश-जन्म में बरसायी,
जिनने रत्नों की धार यहीं।
वे कहाँ गये ? जब प्रभुवर को,
षट् मास मिला आहार नहीं॥

जिन 'रामचन्द्र' ने 'सीता का'
'रावण'-गृह से उद्धार किया।
उस गर्भवती को उनने ही
वन भेज क्रूर व्यवहार किया॥

[३]अतएव सकल सांसारिक सुख,
मधु से लिपटी असिधारा है।
इससे सुख की आशा करना,
अतिशय अज्ञान हमारा है॥

---

२. अशरणानुप्रेक्षा। ३ संसारानुप्रेक्षा।

जैसे अमृत का दान कभी,
दे सकता विषधर नाग नहीं।
वैसे सच्चा सुख दे सकता,
सांसारिक सुख का राग नहीं ॥

इनमें फँसने से ही प्राणी,
चारों गतियों में नाच रहा।
औ' सच्चा हीरा समझ जुटा
हर भव में कच्चा काँच रहा ॥

[४]निश्चय ही क्षणभङ्गुर यह
पुरजन परिजन का नाता है।
यह जीव अकेला ही आता-
है तथा अकेला जाता है ॥

वह यहाँ अकेला ही भोगा-
करता है दुख-आनन्द सभी।
औ' स्वयं अकेले ही गाता-
है विरह-मिलन के छन्द सभी ॥

हर पुण्य पाप की पोथी को,
यह स्वयं अकेले पढ़ता है।
सब अशुभ तथा शुभ कर्मों की
हर मूर्ति अकेले गढ़ता है ॥

---

४. एकत्वानुप्रेक्षा।

[५] ज्यों सौरभ पृथक् स्वतन्त्र वस्तु,
परतन्त्र बना पर फूलों में।
त्यों तन से चेतन पृथक् वस्तु,
नर एक समझता भूलों में॥

चेतन ज्यों का त्यों रहता है,
तन मात्र बिगड़ता बनता है।
पर इसकी अन्य विकृति अपनी-
ही विकृति समझती जनता है॥

तन त्यों ही बदला करता है,
बदला करता नर बाना ज्यों।
जब यही नहीं है अपना तो,
फिर इससे प्रीति लगाना क्यों?

[६] यह तो अत्यन्त अपावन है,
पद-नख से शिर के बालों तक।
पुजने वाले पद से, चूमे-
जाने वाले मृदु गालों तक॥

भीतर यह महा भयानक है,
बाहर दिखता अलबेला है।
भीतर प्रदर्शिनी मज्जा की,
बाहर सज्जा का मेला है॥

---

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा। ६. अशुच्यानुप्रेक्षा।

प्रतिदिन मल मल कर धोते हैं,
बाहर के मल को भोले जन।
पर यदि भीतर का मल बाहर-
हो तो न नयन भी खोले जन॥

[७]मिथ्यात्व-मद्य को पीने से-
ही हुवा महा उन्माद इसे।
कर रहे निमग्न भवोदधि में,
व्रत हानि, कषाय प्रमाद इसे॥

यह जीव वृथा ही औरों को,
निज महा शत्रु है मान रहा।
वास्तविक शत्रु तो आश्रव है,
पर इसे न यह पहिचान रहा॥

यह आस्रव रोक मुझे करना
निज कर्मों को उन्मूल स्वयं।
भव सागर-पार पहुँच पाना-
है मुक्ति नाम का कूल स्वयं॥

[८]अतएव बनूँगा निर्मोही,
अविलम्ब त्याग कर मोह सभी।
अनुराग किसी से नहीं, किसी-
से नहीं करूँगा द्रोह कभी॥

---

७. आस्रवानुप्रेक्षा। ८. संवरानुप्रेक्षा।

मैं समिति, महाव्रत, इन्द्रिय-जय
मन वचन कर्म के संयम से।
कर्मों के आस्रव का संवर,
प्रारम्भ करूँगा निज श्रम से॥

अनुप्रेक्षा, धर्म, परीषद-जय,
धारण करना उपयुक्त मुझे।
कारण, ये ही तो कर्मों से,
कर सकते क्रमशः मुक्त मुझे॥

संवर से होगा नहीं नये-
कर्मों का मुझसे योग पुनः।
पूर्वार्जित कर्मों के क्षय का,
करना होगा उद्योग पुनः॥

अति घोर तपस्या करने से,
हो जायेगा यह कार्य सरल।
अविपाक निर्जरा होने से
भागेंगे सारे कर्म निकल।

मैं एक एक कर आठों ही
कर्मों को शीघ्र खिराऊँगा।
इनका अब तक आतिथ्य किया,
अब इन्हें निकाल भगाऊँगा॥

---

६. निर्जरानुप्रेक्षा।

[10]चिरकाल लोक में मुझको इन,
कर्मों ने भ्रमण कराया है।
सुर नर पशु नर्क चतुर्गति में,
मुझको अब तक भटकाया है॥

पर इन्हें खिरा अब देने पर,
धरना होगा न शरीर पुनः।
औ' नहीं मरण की चिन्ता से,
होगा मम चित्त अधीर पुनः॥

देवेन्द्र नरेन्द्र नहीं बनना-
होगा फिर बाँध किरीट कभी।
बनना न नारकी भी होगा,
होना न पड़ेगा कीट कभी॥

[11]अगणित ही बार यहाँ मुझको
दुर्लभ मानव का रूप मिला।
नारायण-पद भी प्राप्त हुवा,
चक्री पद चारु अनूप मिला॥

पर मैंने न किया अब तक भी,
रत्नत्रय का संकलन कभी।
औ' आत्म बोध के अमृत से
की दूर न भव की जलन कभी॥

---

१० लोकानुप्रेक्षा ११ बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा

अतएव शीघ्र हो अब तो मैं,
आध्यात्म ज्ञान का लाभ करूँ।
इस परम ज्योति की आभा से,
अब अपने को अमिताभ करूँ॥

[१२]इस युग में 'ऋषभ' जिनेश्वर ने,
जो मुनि का धर्म चलाया है।
जो परम्परा से तब से ही,
अब तक भी चलता आया है॥

है आज वही अपनाने में,
मेरी वास्तविक भलाई अब।
इस धर्म-कवच को बाँध अतः,
कर्मों पर करूँ चढ़ाई अब॥

उत्तम क्षमादि दश योद्धा ले,
कर्मों पर जय सोल्लास करूँ।
कैवल्य-प्राप्ति के लिये सतत,
तप-संयम का अभ्यास करूँ॥

द्वादश-अनुप्रेक्षा-चिन्तन से,
अवशिष्ट ममत्व विलीन हुवा।
तत्क्षण वैराग्य वहाँ उसके-
सिंहासन पर आसीन हुवा॥

---

१२. धर्मानुप्रेक्षा

इससे ही उसने राजभवन—
को तृण समान ही लेखा था।
तन के वसनों आभरणों को,
अति तुच्छ दृष्टि से देखा था॥

अविलम्ब उन्हें तज राजभवन,
वन में जा दीक्षा लेना था।
भव-सिन्धु कूल पर जाने को,
निज जीवन नौका खेना था॥

अतएव पिता औ' माता से,
आज्ञा लेने वे वीर गये।
अति कोमल वाणी में बोले,
इस भाँति वाक्य गम्भीर नये॥

"अब आज मुझे जग के वैभव—
से है विशेष निर्वेद हुवा।
उनतीस वर्ष जो खोये हैं,
उनका अतिशय ही खेद हुवा॥

इतना जीवन खो दिया वृथा,
धारा अब तक मुनिवेश नहीं।
त्यागे तन के परिधान नहीं,
स्वयमेव उखाड़े केश नहीं॥

अब तक अनेक ही बार यदपि,
मेरे मन में यह द्वन्द चला।
पर बिना आपकी आज्ञा के,
मैं नहीं कभी स्वच्छन्द चला॥

जब तक न तपस्या करता मैं,
तब तक है मेरी कुशल नहीं।
इससे इस मेरी अभिलाषा —
को आप करें अब विफल नहीं॥

दीक्षा लेने की आज्ञा दें,
पाने दें आत्मिक शान्ति मुझे।
औ' सत्य, अहिंसा के द्वारा
करने दें धार्मिक क्रान्ति मुझे॥

तप की ज्वाला में सोने सा,
होने दें निर्मल शुद्ध मुझे।
निर्वाण लाभ हित करने दें,
आठों कर्मों से युद्ध मुझे॥"

'त्रिशला' के नन्दन मौन पुनः;
इन शब्दों के ही साथ हुये।
उनके समझाने को उद्यत,
अब 'कुण्डग्राम' के नाथ हुये॥

बोले–"जो कुछ तुम कहते हो,
वह निराधार निस्सार नहीं ।
पर तव वियोग को सहना तो,
मेरे मन को स्वीकार नहीं ॥

इससे मेरा यह कहना है,
तुम राज्य अभी सोत्साह करो ।
रह राजभवन में ही अपने,
व्रत नियमों का निर्वाह करो ॥

कर रहे शीघ्रता क्यों इतनी ?
जब निश्चित मिलना सिद्धि तुम्हें ।
स्वयमेव प्राप्त हो जाना है,
इस भव में मुक्ति–समृद्धि तुम्हें ॥

अतएव नहीं तुम कर्मों के,
क्षय करने का कुछ सोच करो ।
यह राज्य सम्हालो, मन में मत,
किंचित् भी तो सङ्कोच करो ॥"

सुन प्रभु ने कहा–"उठायें फिर,
वह ही प्राचीन प्रसङ्ग नहीं ।
इस राज्य-प्रलोभन का मेरे–
मन पर चढ़ सकता रङ्ग नहीं ॥

यह राजपाट क्षणभंगुर है,
यह नहीं सदैव ठहरता है ।
निज पुण्य क्षीण हो जाने पर,
क्षण में सब ठाट बिखरता है ।।

भूगोल यही बतलाता है,
बतलाता है इतिहास यही ।
जाने कितनों ने राज्य किया,
पर रहा किसी के पास नहीं ।।

षट् खण्ड जिन्होंने राज्य किया,
सम्राट् 'भरत' वे आज कहाँ ?
उन पर भी जय पाने वाले,
वे बाहूबलि नरराज कहाँ ?

'कैलाश' उठाने वाले वे,
'रावण' लंका के ईश कहाँ ?
औ' उन्हें हराने वाले भी,
वे 'रामचन्द्र' जगदीश कहाँ ?

यों इस भू पर जाने कितने–
ही भूपों के अधिकार हुये ।
यों इस नभ के नीचे जाने–
कितनों के जय जयकार हुये ।।

यह अवनि किसी की नहीं, किसी-
का भी तो यह आकाश रहा।
शासक कहलाने वालों पर,
भी शासन करता नाश रहा॥

मैं भी नारायण, चक्री का,
पद पाया, सब अनुकूल हुवा।
पर पलक सदा को मुँदते ही,
सब कुछ पल भर में धूल हुवा॥

किसका रहता यह राज्य विभव,
राजा भी रहता कौन यहाँ?
चलता रहता है काल-चक्र,
सब देखा करते मौन यहाँ॥

अनुमति दें, तप-तरणी से,
मैं पार करूँ भवसागर यह।"
हो मौन विशेष प्रशान्त हुये,
इतना वे ज्ञान-दिवाकर कह॥

सुन राजा राज्य-विषय पर फिर-
कह सके अन्य उद्‌गार नहीं।
पर उनके मन की ममता ने,
मानी अब भी थी हार नहीं॥

कह उठे–"न लो यह राज्य किन्तु,
सोचो पुनरपि इस निश्चय पर।
बस, एक बार दो और ध्यान,
मेरे कहने के आशय पर॥

सोचो, यदि तुम वन चले गये,
माँ नित्य भिगोयेंगी अञ्चल।
कारण, बस तुम ही हो इसकी--
इस वृद्धावस्था के सम्बल॥

इसका तुम पर है मोह अधिक,
इसको पीड़ा पहुँचाओ मत।
बस, सोच दशा भर इसकी ही,
तुम राज भवन से जाओ मत॥"

हो पिता न सुत के अन्तस् को--
उनने अब तक पहिचाना था।
अब तक न 'वीर' की हिमगिरि सी--
दृढ़ता को उनने जाना था॥

सम्भवतः इस ही कारण से
इन शब्दों का उच्चार किया।
उत्तर में 'सन्मति' ने यों फिर
सूचित अपना उद्गार किया॥

माँ लगीं सिखाने बच्चों को,
करना प्रभुवर का वन्दन यों।
कर जोड़ नवाना शीश तुरत,
निकलें वे त्रिशला-नन्दन ज्यों॥

अति भक्ति भाव से गद्‌गद हो
करना जयकार समादर से।
बरसाना उन पर पुष्पों की
पंखुड़ियाँ गृह की छत पर से॥

यों इसी विषय की चर्चा थी,
नगरी की सभी दिशाओं में।
जो बिजली जैसी फैल रही--
थी आस पास के गाँवों में॥

औ' इधर 'वीर' मुँह माँगा धन,
देते जाते थे दीनों को।
श्रीमन्त बनाते जाते थे,
वे आज सभी श्रीहीनों को॥

कर डाला दीन दरिद्रों का,
दारिद्रय सर्वथा दूर सभी।
दे डाले तन के भूषण तक
कण्ठी, कुण्डल, केयूर सभी॥

अतएव अलौकिक दृश्य वहाँ,
उस दिन दिखलायी देता था।
सुख भोग त्याग पर तुला हुवा,
वह योग-मार्ग का नेता था॥

यह जान वन्दना करने को,
आये लौकान्तिक देव वहाँ।
कर वन्दन 'त्रिशला नन्दन' का
वे बोले यों स्वयमेव वहाँ॥

"था अभी आपकी सत्ता से,
यह राजभवन ही धन्य प्रभो।
अब किन्तु आपको पाकर हो—
जायेगा धन्य अरण्य प्रभो॥

क्षयशील विनश्वर अम्बर ही
थे अब तक नव परिधान विभो।
अब अक्षय अम्बर-अम्बर से
होवेंगे शोभावान विभो॥

जब आप त्याग कर चल देंगे,
यह जन्म भूमि का धाम प्रभो।
तब नहीं रोक भी पायेगा,
यह 'कुण्ड' नाम का ग्राम प्रभो॥

हैं धन्य आप, जो इस वय में,
निर्ग्रन्थ वेष को धारेंगे।
कोमल तन से कर तप कठोर
चेतन का रूप निखारेंगे॥

औ' 'कुण्ड ग्राम' के ही न अपितु,
त्रिभुवन के नाथ कहायेंगे।
केवल न यहाँ के पुरजन ही,
शत इन्द्र स्वमाथ नवायेंगे॥

हम अतः आपका यह दीक्षा—
कल्याण मनाने आये हैं।
निज मार्ग प्रदर्शक प्रति श्रद्धा—
से शीश झुकाने आये हैं॥

जिन-मुनि की मुद्रा धारण कर,
होवेंगे आप मुनीश प्रभो।
कर आत्म योग का साधन फिर
हो जायेंगे योगीश प्रभो॥

इस युग का है सौभाग्य महा,
जो मिला आपसा नेता है।
जिसने सिंहासन त्यागा है,
जो सच्चा काम-विजेता है॥

वैराग्य आपका धन्य कि जो,
है रहा किसी से स्नेह नहीं।
औ' आज रोकने पाता है,
यह राज्य नहीं, यह गेह नहीं॥

अतएव आपके दर्शन कर
अति धन्य हमारे नेत्र हुये।
देवों के द्वारा पूज्य सदा—
कोंकुण्ड ग्राम' के क्षेत्र हुये॥

कथनीय नहीं वह शब्दों से,
जो आज हमें आनन्द हुवा।
हे ज्ञान सूर्य। तव दर्शन कर
अज्ञान-निशाकर मन्द हुवा॥

निश्चय तव धर्म-प्रचारण से,
सारी जगती सुख पायेगी।
हिंसा का पतझड़ बीतेगा,
करुणा की मधु ऋतु आयेगी॥

अत्यन्त मन्द हो जायेगा,
पापों का भी व्यापार यहाँ।
औ' आत्म धर्म हो जायेगा,
हर आत्मा में साकार यहाँ॥

शूलों से रक्षा हेतु रखीं--
तक नहीं पादुका चरणों में।
औ' गिना उन्होंने छतरी तक--
को भी बाधक उपकरणों में॥

वस्त्रों की कौन कहे? तन पर,
तागा तक नहीं बचाया था।
हो जात रूप निज काया को,
उनने निर्ग्रन्थ बनाया था॥

कोई न बनाया गुरु अपना,
औ' बने नहीं भी चेले वे।
स्वयंमेव बनाने को निज पथ,
उद्यत हो गये अकेले वे॥

चिमटा भी उनने लिया नहीं,
बाँधा न कहीं मृग छाला भी।
औ' नहीं कण्ठ में डाली थी,
उनने रुद्राक्षी माला भी॥

यों विधिवत् चौदह अन्तरङ्ग,
दश बाह्य परिग्रह छोड़े थे।
पश्चात् विनय से सिद्धों को,
अपने दोनों कर जोड़े थे॥

महावीर की दीक्षा

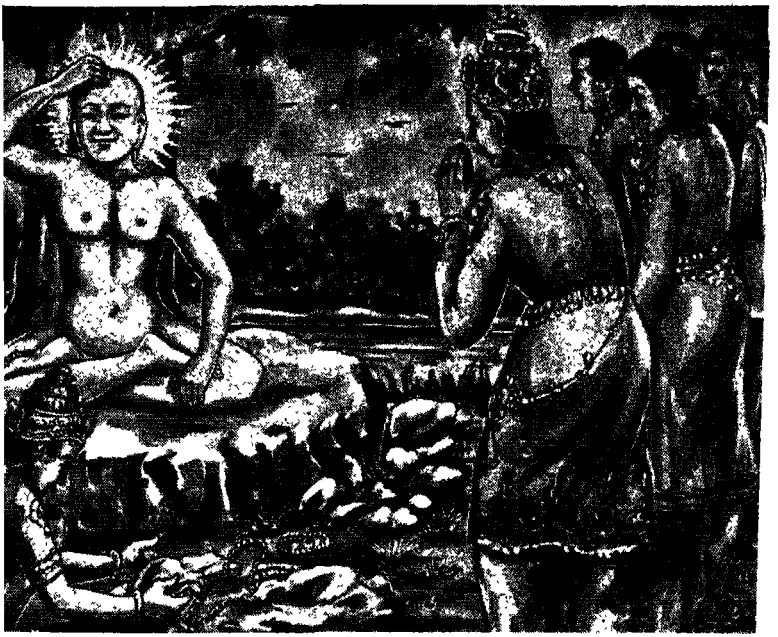

शिरपर के केश लगे उनको,
निज पथ के बाधक कण्टक से।
इससे उखाड़ कर पञ्चमुष्टि-
से दूर किया निज मस्तक से॥

(पृष्ठ ३६१)

फिर अन्तर्मुखी स्वदृष्टि बना,
उनने भीतर को झाँका था।
तन का वैभव तज चेतन का,
अविनश्वर वैभव आँका था॥

शिर पर के केश लगे उनको,
निज पथ के बाधक कण्टक से।
इससे उखाड़ कर पञ्च मुष्टि—
से दूर किया निज मस्तक से॥

टल गये केश, आ गयी अतः,
अब और विशेष अटलता थी।
एवं आरम्भ परिग्रह की—
रह गयी न शेष विकलता थी॥

जिस जिसको समझा पर पदार्थ,
उस उसको दूर हटाया था।
निज के अट्ठाइस मूल गुणों—
से निज चैतन्य सजाया था॥

मन, बचन, काय को शुद्ध बना,
बैठे निश्चल परिणाम किये।
दर्शक स्व वास को लौट चले,
मन में संस्मृति अभिराम लिये॥

चाहे विपत्ति जो आये, सब—
सह लेते थे वे समता से।
निज निश्चय नहीं बदलते थे,
डर कर पथ की दुर्गमता से॥

गोपों ने उन्हें सचेत किया,
"यह मार्ग निरापद सरल नहीं।
रह रहा दृष्टि विष सर्प यहाँ,
सकता कोई भी निकल नहीं॥

कारण, उसकी विष-ज्वाला को,
कोई न कभी सह पाया है।
जो गया हठात् इधर होकर,
जीवित न निकल वह पाया है॥

जो भी जन वहाँ पहुँचता है,
डस लेता उसको साँप वहीं।
इससे इस पथ से होकर अब,
प्रस्थान कीजिये आप नहीं॥"

यह सत्य सूचना सुनकर भी
प्रभु ने त्यागा उत्साह नहीं।
औ' विषम दृष्टि विष विषधर से
डर कर बदली निज राह नहीं॥

वे उसी मार्ग से चल उसके
बिल के समीप आसीन हुये।
वह सर्प जहाँ पर रहता था,
वे वहीं ध्यान में लीन हुये॥

जब सर्प वहाँ पर आया तो,
उसको ध्यानस्थित सन्त दिखे।
उनके से निर्भय व्यक्ति उसे,
थे नहीं आज पर्यन्त दिखे॥

निज राज्य—क्षेत्र में देख उन्हें,
हो रहा उसे अति संशय था।
यह पुरुष नहीं साधारण है,
हो गया उसे यह निश्चय था॥

फिर भी उस विषधर ने उनसे—
मानी न सहज ही हार स्वयं।
विषमयी दृष्टि से देख उन्हें,
छोड़ी विषमय फुंकार स्वयं॥

पर जाने क्यों अब आज विफल
उसका यह दृष्टि—प्रहार रहा।
फेंकी फिर दृष्टि अनेक बार
फल किन्तु वही हर बार रहा॥

इतने पर भी उस नागराज,
का साहस आज न हारा था।
काटा तत्काल अँगूठे में,
या विष से चरण पखारा था॥

पर नहीं वीर ने नयन खोल
उस अहि की ओर निहारा था।
उनकी इस दृढ़ता से विषधर,
पर चढ़ा क्रोध का पारा था॥

फण पुनः चलाया कई बार,
जो सहे उन्होंने शान्ति सहित।
यों पूर्ण शक्ति व्यय कर भी अहि,
कर सका न उनका आज अहित॥

पा नहीं सका जय महानाग
उन 'महावीर' पर हिंसा से।
पर 'महावीर' ने महानाग—
पर जय की प्राप्त अहिंसा से॥

यह अपनी प्रथम पराजय उस,
विषधर को बनी पहेली अब।
सोचा, यह कौन पुरुष ? जिसने
ये मेरी चोटें झेलीं सब॥

दृष्टि विष विषधर

पा नहीं सका जय महानाग,
उन 'महावीर' पर हिंसा से ।
पर 'महावीर' ने महानाग-
पर जय की प्राप्त अहिंसा से ॥

(पृष्ठ ३८०)

अतएव कहीं रुकते न अधिक,
हर ग्राम शीघ्र ही तजते थे।
प्रायः जा विजन तपोवन में,
वे 'सोऽहं' 'सोऽहं' भजते थे॥

यदि विघ्न पारणा में आता,
तो भी करते सन्ताप न थे।
कोई कितना उपसर्ग करे,
पर देते वे अभिशाप न थे॥

इससे कुछ दुष्ट अकारण ही,
उनको दिन रात सताते थे।
कुछ तप से उन्हें डिगाने को
सम्मुख उत्पात मचाते थे॥

पर किंचित् कुपित न होते थे,
वे करुणा के अवतार कभी।
औ' पास न आने देते थे,
वे कोई शिथिलाचार कभी॥

उनमें कोई भी तो प्रमाद
होता था कभी प्रतीत नहीं।
उनका क्षण मात्र असंयम में
होता था नहीं व्यतीत कभी॥

पैदल सदैव ही चलते थे,
तो भी न कभी वे थकते थे।
पथ के कङ्कण औ' कण्टक भी
तो उनको नहीं खटकते थे॥

यों चल वे 'ब्राह्मण ग्राम' रुके,
फिर 'चम्पा' को प्रस्थान किया।
कर चातुर्मास तृतीय यहीं,
उनने निज आत्मोत्थान किया॥

औ' दो दो मास क्षपण के दो-
तप किये न किन्तु उदास हुये।
यों हुई पारणा केवल दो,
औ' पूरे चारों मास हुये॥

इस चतुर्मास में क्लिष्टासन-
से किया उन्होंने आत्म मनन।
एवं विशेषतः रुद्ध रखी,
मन वचन काय की हलन चलन॥

पश्चात् वहाँ से कर विहार
'कालाय' ग्राम वे नाथ गये।
औ' 'गोशालक' भी छाया से
उन विश्व बन्धु के साथ गये॥

वे रात खण्डहर में ठहरे,
प्रस्थान किया फिर प्रात समय।
अविलम्ब 'पत्तकालय' पहुँचे,
ईर्या से चलते हुये सदय॥

तदनन्तर सत्वर आगे को-
चल पहुँचे ग्राम 'कुमारा' वे।
जनता के श्रद्धापात्र यहाँ-
भी बने गुणों के द्वारा वे॥

पश्चात् वहाँ से कर विहार,
पहुँचे 'चोराक' यशस्वी वे।
औ' यहाँ गुप्तचर समझ लिये-
थे गये महान् तपस्वी वे॥

वस्तुस्थिति किन्तु समझते ही,
सम्मान हुवा उन त्यागी का।
फिर नहीं किसी ने रोका पथ,
उन जग से पूर्ण विरागी का॥

उनने कुछ दिन रुक वहाँ 'पृष्ठ-
चम्पा' की ओर प्रयाण किया।
कर चौथा वर्षावास वहीं,
निज आत्मा का कल्याण किया॥

अति कठिन आसनों से दुर्धर—
तपक्रिया तथा शुभ ध्यान किया।
रह चार मास फिर 'कयंगला'—
की ओर पुण्य प्रस्थान किया॥

कुछ ठहर वहाँ फिर 'श्रावस्ती'—
जाकर धारण निज योग किया।
नगरी के बाहर ध्यान लगा,
सुस्थिर अपना उपयोग किया॥

कर ध्यान प्रपूर्ण 'हलिद्रुग पुर'
की ओर बढ़ाये स्वीय चरण।
पुर निकट एक तरु तले पहुँच—
कर ठहर गये वे महाश्रमण॥

कुछ अन्य यात्रियों ने भी तो,
आ की व्यतीत वह रात वहीं॥
औ' अग्नि जलायी, संग्रह कर—
तरुओं के सूखे पात वहीं॥

वैसी ही जलती अग्नि छोड़,
वे गये कि ज्यों ही प्रात हुवा।
पर इस प्रमाद से ध्यानस्थित,
प्रभु पर भीषण उत्पात हुवा॥

कुछ ही क्षण में वह अग्नि फैल—
हो और अधिक विकराल गयी।
बढ़ते बढ़ते वह ध्यानमग्न—
प्रभु के समीप तत्काल गयी॥

उपसर्ग जान यह प्रभुवर ने,
दृढ़ मेरु समान शरीर किया।
वह अग्नि ज्वाल सह लेने को
मन सागर सा गम्भीर किया॥

वह अग्नि और भी अरुण हुई,
वह दृश्य और भी करुण हुआ।
यह सहनशीलता देख स्वयं,
आश्चर्य चकित सा वरुण हुआ॥

'गोशालक' उठ कर भाग गया,
पर नहीं 'वीर' का रोम कँपा।
उनकी इस दृढ़ता को विलोक,
यह धरा कँपी, यह व्योम कँपा॥

अब मानो सारी शक्ति लगा,
वह अग्नि विशेष सुरङ्ग हुई।
अत्यन्त निकट आ गयी ज्वाल,
पर 'वीर' समाधि न भङ्ग हुई॥

उस समय वहाँ का करुण दृश्य,
अति हृदय विदारक लगता था।
इस तेज पुञ्ज से डर भी वह,
तेजस्वी किन्तु न भगता था॥

हो गया हताश हुताश निरख,
तप-तेज-प्रकाश विलक्षण यह।
अवलोक 'वीर' की शान्ति स्वयं,
हो गया शान्त फिर तत्क्षण वह॥

सब घास पत्तियाँ राख हुईं
औ' रही न शेष ललामी अब।
निज नयन खोल इस भाँति उठे,
उस समय वहाँ से स्वामी अब॥

जैसे कि अग्नि ज्वालाओं ने,
हो उनसे प्यार दुलार किया।
या बन्धु समझ उन तेजस्वी—
का हो स्वागत सत्कार किया॥

पश्चात् 'नंगला' गये वहाँ—
से चल 'सिद्धार्थ-दुलारे' वे।
कुछ समय वहाँ पर रुक कर फिर,
'आवत्ता' ग्राम पधारे वे॥

कुछ ठहर वहाँ भी 'कलंबुका'—
को फिर वे त्रिशला-लाल गये।
पुर के निवासियों पर अपने—
तप का प्रभाव सा डाल गये॥

वह स्वयं प्रभावित होता, जो—
उनका दर्शन कर लेता था।
कारण उस समय न कोई भी,
उन सा उपसर्ग-विजेता था॥

कुछ भेंट चाहते देना नर,
पर वे कणमात्र न लेते थे।
निर्ग्रन्थ पूर्ण रह भवसागर—
में जीवन-नौका खेते थे॥

कर यथाशीघ्र निर्जरा उन्हें,
कैवल्य प्राप्त कर लेना था।
हो प्राप्त घातिया कर्मों को—
भी तो समाप्त कर देना था॥

बस, इसी हेतु वे समता से
सह लेते सारे क्लेश सदा।
औ' अपने चरणों से नापा—
करते प्रत्येक प्रदेश सदा॥

थे किये अभी तक 'आर्यभूमि'—
में ही सब वर्षावास यहीं।
एवं 'अनार्य' में जाने का,
अब तक था किया प्रयास नहीं॥

पर कर्म त्र्यार्थ वहाँ जाने—
का अब इस बार विचार किया।
औ' राढ़ भूमि की ओर उन्हों—
ने अब इस बार विहार किया॥

अविवेक अनार्यों का विलोक—
भी हुये न क्षुब्ध विवेकी वे।
उनने अनेक उत्पात किये,
पर टिके रहे दृढ़ टेकी वे॥

औ' कभी अनार्यों के कार्यों—
से उन्हें हुवा उद्वेग नहीं।
विघ्नों के अड़े हिमालय पर
हारा उनका संवेग नहीं॥

यों वहाँ भ्रमण कर 'आर्य देश'—
में उनने पुण्य प्रवेश किया।
अपने विहार से अति पावन,
वह 'मलय' नाम का देश किया॥

वर्षागम हुवा कि चार मास–
तक को सस्थगित विहार किया।
निज पञ्चम वर्षावास यहीं,
'भद्दिलपुर' में इस बार किया॥

पर कभी पारणा करने को,
वे नहीं नगर की ओर गये।
रह चार मास तक निराहार,
तप किये निरन्तर घोर नये॥

अति जटिल तपस्या थी फिर भी–
तो शिथिल न उनके अङ्ग हुये।
हर दर्शक को विस्मय कारक,
उनके आसन के ढङ्ग हुये॥

हर ग्राम ग्राम में फैल गयी,
उनके तप की यह करुण-कथा।
जनता ने ऐसा तप करता,
देखा कोई भी तरुण न था॥

सब उन्हें निरखने लगते थे
पथ से जब कभी निकलते वे।
लगता, जैसे तप चलता हो
जिस समय मार्ग पर चलते वे॥

उनका तप दर्शन सा दुरूह,
थी किन्तु सरलता कविता सी।
वाणी प्रिय चन्द्र कला सी थी,
मुख पर आभा थी सविता सी॥

भत समझो, कवि यह अपने मन—
से गढ़ गढ़ कर सब कहता है।
विश्वास रखो, ध्रुव सत्य छन्द—
में पिघल पिघल कर बहता है॥

यों कठिन आसनों से करते
निज ध्यान अनेक प्रकार सदा।
करते उपाय हर, करने को—
आत्मा से दूर विकार सदा॥

तन तप करता, पर चेतन का—
सौन्दर्य निखरता जाता था।
औ' कर्म-वृक्ष से क्रमशः ही,
हर पल्लव झरता जाता था॥

रच रहे तीर्थ थे वे संयम—
तप-ब्रह्मचर्य के संगम पर।
हो रही सफलता मोहित थी,
उन तीर्थंकर के विक्रम पर॥

उपवास अधिक वे करते थे,
पर तन-सामर्थ्य न घटता था।
औ' चार घातिया कर्मों का,
बन्धन क्रम क्रम से कटता था।

जब निराहार ही तप करते,
पूरे हो महिने चार गये।
तब पारणार्थ मध्याह्न समय–
में वे सिद्धार्थ-कुमार गये॥

आहार ग्रहण कर चले पुनः,
अब 'कयलि' ग्राम को जाना था।
कारण, उनने निज जीवन में,
आगे बढ़ना ही ठाना था॥

औ' अधिक दिनों तक उन्हें कहीं
रुकना लगता था ठीक नहीं।
अतएव समझते जहाँ उचित,
जाते थे वे निर्भीक वहीं॥

फिर 'जम्बूसंड' पहुँचने को
उनने निज चरण बढ़ाये थे।
पश्चात् वहाँ से चल कर वे
'तंबाय' ग्राम में आये थे॥

फिर 'कूपिय' पहुँचे, तदनन्तर,
'वैशाली' को प्रस्थान किया।
कुछ ठहर वहाँ ग्रामाक गये,
फिर 'शालिशीर्ष' जा ध्यान किया॥

चल पुनः 'भद्दिया' में करने—
को वर्षावास पधारे थे।
यह छठवाँ चातुर्मास यहाँ,
करते सिद्धार्थ-दुलारे थे॥

चातुर्मासिक तप किया, यहाँ—
भी ग्रहण किया आहार नहीं।
रह निराहार ही बिता दिये,
वर्षा के महिने चार वहीं॥

कर चातुर्मास समाप्त पुनः,
चल 'मगध' ओर वे नाथ गये।
'गोशालक' भी अनुगामी से,
उन स्वामी प्रभु के साथ गये॥

औ' वहीं शीत ऋतु आतप ऋतु—
का समय बिता इस बार दिया।
फिर 'आलंभिया' पहुँचने को,
उनने अविलम्ब विहार किया॥

औ' नियत समय पर उस नगरी—
में पहुँचे करते हुये भ्रमण।
रुक चार मास के लिये वहाँ,
तप लीन हुये वे महाश्रमण॥

चातुर्मासिक तप से सार्थक,
यह सप्तम चातुर्मास किया।
जल नहीं एक भी बूँद पिया,
औ' नहीं एक भी ग्रास लिया॥

जब चतुर्मास हो गया, तभी—
आहार लिया उन त्यागी ने।
'कुण्डाक' ओर प्रस्थान किया,
फिर उन सच्चे वैरागी ने॥

तदनन्तर वे 'मद्दना' गये,
'बहुसाल' पहुँच फिर ध्यान किया॥
फिर 'लोहार्गला' नगर जाने—
को उनने था प्रस्थान किया॥

'जित शत्रु' भूप ने वहाँ किया॥
सम्मान स्वयं उन ध्यानी का।
फिर 'पुरिमताल' की ओर गमन,
हो गया शीघ्र उन ज्ञानी का॥

आ वहाँ नगर के बाहर रुक,
कुछ समय रहे वे ध्यान निरत।
पश्चात् वहाँ से 'राजगृही'--
आये वे चलते हुये सतत॥

कर यहीं आठवाँ चतुर्मास,
उनने तप-योग विराट् किया।
रह चार मास तक निराहार,
अगणित कर्मों को काट दिया॥

यों क्रमशः क्षय होते जाते—
थे, जितने कर्म पुराने थे।
करते न पुण्य औ' पाप अतः,
अब नूतन कर्म न आने थे॥

फिर भी जो शेष रहे उनके--
क्षय की उनको अभिलाष हुई।
अतएव 'अनार्य प्रदेशों में,
जाने की फिर से प्यास हुई॥

इस हेतु 'राढ' की वज्रभूमि'—
में गये वहाँ से वे प्रभुवर।
औ, वहाँ परीषह विविध सहीं,
उनने मानस में समता धर॥

वर्षागम देख किया अपना—
वह नवमा चातुर्मास वहीं।
औ' कर्म निर्जरा हेतु किये,
दुष्कर अनेक उपवास वहीं॥

छह मास वहाँ रह 'आर्य' भूमि—
को पुनः प्रशस्त विहार किया।
बन सका जहाँ तक उनसे निज,
चेतन का रूप निखार लिया॥

आओ, अब देखें यहाँ और,
क्या क्या तप करते 'वीर' अभी।
वे भावी अग्नि परीक्षाएँ,
सहते किस भाँति सधीर सभी॥

—×—

सोलहवाँ सर्ग

उनने निकाल कर दूर किया,
निज कोमल तन का मोह सभी।
औ' किये पराजित दृढ़ता से,
पाषाण वज्र औ' लोह सभी॥

इस लघुतम घटना ने भी तो,
उस पर प्रभाव अति डाला था।
सब का जन्मान्तर सम्भव यह,
सिखलाया ज्ञान निराला था॥

फिर भी प्रभु के आदर्श सभी,
वह जीवन में न उतार सका।
छह वर्ष शिष्य सा रह कर भी,
कर नहीं आत्म उद्धार सका॥

औ' यश-लिप्सा से प्रेरित हो,
करने स्वतन्त्र प्रस्थान लगा।
तेजोलेश्या की प्राप्त पुनः,
करने निमित्त का ज्ञान लगा॥

छह दिशाचरों से पढ़ निमित्त,
वह इस विद्या में दक्ष हुवा।
इस कारण कुछ ही दिवसों में,
वृद्धिंगत उसका पक्ष हुवा॥

अब अपने को आचार्य मान,
वह प्रभु से रहता दूर सदा।
'आजीवक' मत का नेता बन,
रहता था मद में चूर सदा॥

उसका महत्व था अभी क्यों कि,
प्रभुवर उपदेश न देते थे ।
औ' अभी किसी को शिष्य बना,
वे अपना वेश न देते थे ।।

कारण कि नहीं था पूर्ण हुवा,
उनका प्रशस्त उद्देश अभी ।
औ' जीत घातिया कर्मों को,
थे बने न 'वीर' जिनेश अभी ।।

अतएव मौन रह विचरण वे,
करते थे अभी प्रदेशों में ।
कैवल्य-प्राप्ति के लिये देह-
को तपा रहे थे क्लेशों में ।।

वे बनना चाह रहे थे द्रुत,
सम्पूर्णतया निर्दोष स्वयं ।
औ' बनना चाह रहे थे द्रुत,
वे विश्व ज्ञान के कोष स्वयं ।।

अतएव निरन्तर चलता था,
उनका यह अनुसन्धान अभी ।
तिल मात्र न आने देते थे,
इसमें कोई व्यवधान अभी ।।

उनकी इच्छा थी सर्व प्रथम,
निज आत्मा का उद्धार करूँ।
पश्चात् जगत्-उद्धार हेतु
आजीवन धर्म-प्रचार करूँ॥

'सिद्धार्थ पुरी' से चलकर फिर
'वैशाली' नगर पधारे वे।
पुर के बाहर ध्यानार्थ वहाँ,
बैठे सिद्धार्थ-दुलारे वे॥

तदनन्तर चल 'वैशाली' से,
'वाणिज्य ग्राम' वे नाथ गये।
पथ में ग्रामीण पुरुष उनके
पद पर नत करते माथ गये॥

'वाणिज्य ग्राम' से 'श्रावस्ती'-
की ओर उन्होंने किया गमन।
कर दसवाँ वर्षावास वहीं,
निर्विघ्न किया निज आत्म मनन॥

यह चतुर्मास हो जाने पर
चल दिया वहाँ से उसी समय।
औ' पहुँच 'सानुलट्ठिय' पुर में
कर्मों से पाने हेतु विजय॥

सोलह उपवास निरन्तर कर,
विधिवत् शुभ ध्यान जमाया था।
दिन रात खड़े ही रहे गात,
दृढ़ मेरु समान बनाया था॥

इस दीर्घ अवधि में ध्यानी वे,
सम्पूर्णतया ही मौन रहे।
इस नश्वर स्वर से उनकी यह
अविनश्वर महिमा कौन कहे?

उनने निकाल कर दूर किया,
निज कोमल तन का मोह सभी?
औ' किये पराजित दृढ़ता से,
पाषाण, वज्र औ' लोह सभी॥

कर पुनः विहार वहाँ से चल,
'दृढ़ भूमि' गये निर्मोही वे।
ध्यानस्थ चैत्य में हुये लक्ष्य-
कर अपने चेतन को ही वे॥

अष्टम तप धारण कर रजनी-
भर किये रहे अनिमेष नयन।
वे रहे जागते उस क्षण भी,
जब करता था सब देश शयन॥

इतनी तन्मयता से उनने
इस बार वहाँ पर ध्यान किया।
सुरपति ने देख जिसे उनके-
तप की महिमा का गान किया॥

वे बोले देवों के सम्मुख-
"उन तुल्य न कोई ध्यानी है।
शत जिह्वा से भी अकथनीय,
उनकी यह ध्यान-कहानी है॥

सुर तक भी डिगा न सकते हैं
उनने ऐसा अभ्यास किया।
यह सत्य बात भी सुन न एक-
सुर ने इस पर विश्वास किया॥

उसको तत्काल हुई इच्छा,
उनको प्रत्यक्ष निरखने की।
औ' बना योजना ली उसने
प्रभुवर का ध्यान परखने की॥

वह पूँछ इन्द्र से चला तथा
थे वे 'त्रिशला' के लाल जहाँ।
निज बल से उन्हें डिगाने को,
वह पहुँच गया तत्काल वहाँ॥

दन्तावलि बाहर को निकाल,
दृग-युग लोहित सा लाल किया।
औ' लगा भाल पर सींगों को,
निज रूप बना विकराल लिया॥

यों रुद्र रूप धर और मचा-
कर विविध उपद्रव क्लेश दिया।
माया से घोर भयानक वह,
सारा निकटस्थ प्रदेश किया॥

चिल्लाया, गरजा, चिंघाड़ा,
पर डरे 'वीर' भगवान नहीं।
उत्पात सामने होते थे,
पर तजते थे वे ध्यान नहीं॥

जब उसने देखा, मेरे ये-
सारे प्रयत्न हो गये विफल।
तो अन्य उपायों से उनको,
तपच्युत करने को हुवा विकल॥

माया से उसने भीलों की
सेना ली बना नवीन वहीं।
जो उन्हें डराने लगी किन्तु,
वे रहे ध्यान में लीन वहीं॥

यह देख देव ने सोचा यह
इनसे न डरे हैं 'वीर' अभी।
मेरे इन सभी उपायों से,
हैं डिगे न ये गम्भीर अभी॥

मैंने हैं विषम प्रयत्न किये,
पर तजी न इनने समता है।
क्या इनको अपनी काया से,
रह गयी न किंचित् ममता है?

सम्भवतः अपने पथ से ये
डिग पायेंगे न सरतला से।
पर मेरा भी देवत्व विफल
यदि टलते ये न अटलता से॥

यह सोच सिंह औ' चीतों की
सेना उसने सोत्साह रची।
श्मसान वहाँ मच गया सभी
जीवों में चीख कराह मची॥

पर कोई भी न प्रभाव पड़ा,
उन महातपी उत्साही पर।
सुर की न एक भी युक्ति चली,
उन मुक्ति-मार्ग के राही पर॥

अतएव धूल की वर्षा की,
पर जमे रहे वे सन्त वहीं।
भू-नभ पर धूल दिखाती थी
दिखते थे और दिगन्त नहीं॥

पद से शिर तक दब गये धूल—
में, पर न ध्यान से 'वीर' हटे।
यह देख मोर बरसाया पर,
वे रहे जहाँ के तहाँ डटे।

यद्यपि यह दृढ़ता देख हुवा,
उसको आश्चर्य महान वहाँ।
पर सहसा आया ध्यान कि मैं
आया मन में क्या ठान यहाँ?

यह सोच पुनः निज माया से
रच जन्तु विषैले त्रास दिया।
अहि, वृश्चिक, कर्णखजूर आदि—
को छोड़ 'वीर' के पास दिया॥

फिर भी इनसे भयभीत नहीं,
हो सके मनःपर्यय ज्ञानी।
यह देख देव ने उन प्रभु की,
धृति, शान्ति, वीरता पहिचानी॥

औ, अपनी माया को समेट,
स्वयमेव शान्त वह अमर हुवा।
इस अग्नि परीक्षा में तप कर
प्रभु-तेज और भी प्रखर हुवा ॥

तदनन्तर कर प्रस्थान वहाँ—
से 'वीर' 'नालुका' आये थे।
कुछ रुक 'सुभोग' 'सुच्छेत्ता' की—
ही ओर स्वपाद बढ़ाये थे ॥

फिर 'मलय' और फिर 'हत्थिसीस'
फिर 'तोसलि' जाकर भ्रमण किया।
पश्चात् पहुँच 'सिद्धार्थ पुरी"
कर ध्यान आत्म का मनन किया ॥

'ब्रज ग्राम' गये फिर, उस सुरने—
भी अब तक था सहगमन किया।
सर्वत्र विघ्न थे किये, जिन्हें—
प्रभु ने था निर्भय सहन किया ॥

इससे अब हो प्रत्यक्ष प्रगट,
प्रभु की महिमा का गान किया।
बोला कि "आपकी दृढ़ता को
मैंने सम्यक् पहिचान लिया ॥

षट् मास अभी तक सँग रह कर,
उपसर्ग आप पर घोर किया।
पर सदा आपकी दृढ़ता ने,
है मुझको हर्ष विभोर किया॥

था देवराज ने ठीक कहा,
हो गया मुझे अब निश्चय यह।
तप से च्युत करने आया था,
अब जाता हूँ मैं जय जय कह॥

यों की सराहना मुक्त कण्ठ—
से उनकी शान्ति अटलता की।
औ' बारम्बार प्रशंसा की,
उनके तप की निर्मलता की॥

पश्चात् भक्ति से उनके पद—
पर अपना मस्तक टेक दिया।
औ' कहा—"प्रभो! वह क्षमा करें
अब तक जो कुछ अविवेक किया॥"

यह कह कर उसने प्रभुवर के—
चरणों से भाल उठाया फिर।
औ' होकर अन्तर्धान शीघ्र,
वह स्वर्ग लोक में आया फिर॥

सुरपति समझ जा प्रकट किया,
"था नाथ ! आपने ठीक कहा ।
वे 'महावीर' हैं महाधीर,
हैं महातपी, निर्भीक महा ।।

मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ,
उनकी धृति और निडरता को ?
मैं तो विमुग्ध हो गया देख-
कर उनकी ध्यान-प्रखरता को ।।

मैंने तप से च्युत करने को,
उन पर अति धूल उड़ायी थी ।
मिट्टी भी बरसायी थी,
पानी की झड़ी लगायी थी ।।

अहि, वृश्चिक, कर्ण खजूरों को,
उनकी काया पर डाला था ।
पर नहीं अल्प भी भङ्ग हुवा,
उनका वह ध्यान निराला था ।।

सब व्यर्थ हुये, तप-च्युत करने-
के मैंने जितने ढङ्ग किये ।
वे आत्म ध्यान में लीन रहे,
दृढ़ मेरु सदृश निज अङ्ग किये ।।"

इतना कह कर वह मौन हुवा,
सबने प्रभु-ध्यान-प्रताप सुना।
हर वाक्य देवियों ने भी तो,
अति शान्ति सहित चुपचाप सुना॥

फिर कहा—"आपने धूल-नीर
बरसा कर उन्हें सताया है।
कुछ कीड़ों और मकोड़ों को,
उनके तन से चिपटाया है॥

पर यह सोचा भी नहीं कि तन-
से रखते मोह यतीश नहीं।
इससे ऐसे उद्योगों से,
तजते स्वयोग योगीश नहीं॥

इन पर तो रङ्ग चढ़ा सकती-
है मात्र वासना की तूली।
अतएव आपने व्यर्थ वहाँ-
जा कर बरसायी है धूली॥

इस कार्य हेतु तो हमसे बढ़,
होते न आप सब दक्ष कभी।
अब देखो, उन्हें परखतीं हैं
हम जाकर वहीं समक्ष अभी॥

देखें, न मुग्ध कैसे होते,
अवलोक हमारा चन्द्रवदन ?
कैसे न मचाता है उनके
अन्तर में अन्तर्द्वन्द मदन ?

यह कह वे चलीं तपस्या-च्युत-
करने अपनी सुन्दरता से।
अति दिव्य आभरण वसन पहिन,
तन सजा लिया तत्परता से ॥

श्री 'वीर' समक्ष उन्होंने जा
निज को सविलास दिखाया फिर।
अति हाव भाव से निज छवि का
वैशिष्ट्य सलास दिखाया फिर ॥

पर 'महावीर' ने एक बार-
भी उनकी ओर नहीं देखा।
रस भरी स्वर्ग-सुन्दरियों को
नीरस तरु-ठूठों सा लेखा ॥

जब नहीं मुग्ध वे हुये, उन्हें-
तब निष्फल अपना देह लगा।
भासा वह दिव्य स्वरूप विफल
जो नर में सका न स्नेह जगा ॥

रीझे न दिगम्बर वे जिन पर
निष्फल से वे परिधान लगे।
भूषण दूषण सम औ' दुकूल,
अब उनको शूल समान लगे॥

पर तत्क्षण आया ध्यान कि हम—
क्या कह कर यहाँ पधारी हैं?
हम इन्हें जीतने आयीं हैं,
जा रहीं स्वयं पर हारी हैं॥

यह सोच नाचने लगीं और,
गा चलीं प्रेम मय गान मधुर।
पर प्रभु का हृदय न तान सकी,
उनके गीतों की तान मधुर॥

उनकी धुन में धुन नहीं लगा—
पायी नूपुर की रुनन झुनन।
यह देख लगे मुरझाने थे,
उनकी आशा के सौम्य सुमन॥

फिर भी वे नहीं निराश हुईं
औ' रचा उन्होंने जाल नया।
प्रभु को तप से च्युत करने को,
सोचा उपाय तत्काल नया॥

बोलीं कि "आपको हम अपने
आने का हेतु सुनातीं हैं।
अतएव ध्यान से उसे सुनें,
हम सब जो बात बतातीं हैं॥

मुनिनाथ! आपके इस तप से,
हैं मुदित हुये सुरनाथ वहाँ।
फलरूप आपकी सेवा में,
भेजा हम सबको साथ यहाँ॥

जिनकी अभिलाषा से ही तप
करते हैं यहाँ मुनीश सभी।
जिनके पाने को योगों का
साधन करते योगीश सभी॥

जिनकी इच्छा से युद्धों में,
मरते हैं वीर अनेक यहाँ
जिनकी वांछा से करते हैं,
पूजक प्रभु का अभिषेक यहाँ॥

वे स्वतः आपके प्राप्त हुईं,
इससे अब हमसे स्नेह करें।
औ' देकर अपना अङ्गदान
अब सफल हमारी देह करें॥

यह सुन भी प्रभु ने उन सुरियों—
की ओर उठाये नेत्र नहीं।
कारण कि वासना से दूषित—
थे उनके अन्तस्-क्षेत्र नहीं॥

उन पर निज रङ्ग चढ़ाने में,
था अब भी विफल अनङ्ग हुवा।
सुर भामिनियों के भ्रू भङ्गो—
से भी प्रभु-ध्यान न भङ्ग हुवा॥

उन पर उनकी चञ्चलता का,
चल पाया रञ्च प्रपञ्च नहीं।
बन सका राग का रङ्गस्थल,
उनके मानस का मञ्च नहीं॥

वे चिर उदार निज स्नेह दान—
के लिये बने थे महाकृपण।
था यही हेतु जो इतने पर—
भी मौन रहे वे महाश्रमण॥

पा उन्हें निरुत्तर उनने निज,
माया से और उपाय किया।
उनको उभारने हेतु राग—
उद्दीपक अध्यवसाय किया॥

देवाङ्गनाओं द्वारा परीक्षा

उन पर निज रङ्ग चढ़ाने में
था अबभी विफल अनङ्ग हुवा।
सुर भामिनियों के भ्रू-भङ्गों-
से भी प्रभु-ध्यान न भङ्ग हुवा॥

(पृष्ठ संख्या ४३०)

पर जागा काम-विकार नहीं,
निस्सार सकल व्यापार रहे।
असफल हो वे ही विकृत हुईं,
पर 'वीर' पूर्ण अविकार रहे।

आजानु बाहु के बाहु बाँध,
पाये उनके भुजपाश नहीं।
आशा तक उनको छोड़ चली,
पर छोड़ी उनने आश नहीं॥

बोलीं—"हमने था सुना आप,
हरते दुखियों की पीर सभी।
औ' पर –उपकार–निमित्त लगा-
देते मन वचन शरीर सभी॥

यह भी था सुना आपका मन,
मृदु है शिरीष के फूल सदृश।
पर आज यहाँ हम देख रहीं,
वह है करील के शूल सदृश॥

हम तो नवनीत समान बनी,
पर आप वज्र से बने रहे।
हम झुकीं लता सी किन्तु आप,
तो हैं खजूर से तने रहे॥

अति व्यर्थ हमारा गात हुवा,
अति व्यर्थ हमारी बात हुई ।
अति व्यर्थ कटाक्ष निपात हुवा,
अति व्यर्थ आज यह रोत हुई ॥

अतएव चकित हो अंगुलियाँ,
हम दाँतों तले दबातीं हैं ।
आयीं था हो आसक्त यहाँ,
पर भक्त बनी अब जातीं हैं ॥

इतना कह 'त्रिशला नन्दन' का,
अभिनन्दन बारम्बार किया ।
उन काम-निकन्दन के चरणों,
का वन्दन बारम्बार बारम्बार किया ॥

फिर तत्क्षण अन्तर्धान हुईं,
औ' स्वर्ग गयीं सुरबाला वे ।
पहनाने थीं वरमाल गयीं,
आयीं गाते जयमाला वे ॥

कारण कि वीर के नयन लुब्ध-
थे हुये न उनके बालों पर ।
उन आत्म-रसिक के अधर लुब्ध,
थे हुये न उनके गालों पर ॥

अतएव 'वीर' के सदाचार-
का आज उन्हें था बोध हुवा।
एवं अपने उस कदाचार-
पर आज उन्हें था क्रोध हुवा॥

थीं मान रहीं यह तुच्छ कार्य,
हमसे ही होगा सम्भव अब।
अब माना प्रभु को च्युत करना,
सब के ही लिए असम्भव अब॥

जो कहा इन्द्र ने था, वह अब-
अक्षरशः सच प्रतिभात हुवा।
जो गर्व रूप का करतीं थीं,
उस पर था उल्कापात हुवा॥

अब वे सुखधुएँ नहीं यहाँ,
जब प्रभु ने ऐसा भान किया।
तो उठे और चर्यार्थ नगर-
की ओर पुण्य प्रस्थान किया॥

छह मास पूर्ण हो जाने पर-
ही थी उनकी यह भुक्ति हुई।
उन निर्मोही का ऐसा तप,
अवलोक विमोहित मुक्ति हुई॥

पश्चात् वहाँ से 'श्रावस्ती'–
की ओर चले वे महा श्रमण।
औ' पहुँचे 'सेयविया' आदिक-
नगरों में करते हुये भ्रमण॥

'श्रावस्ती' से चल 'कौशाम्बी'
फिर 'वाराणसी' गये 'सन्मति'।
पश्चात् 'राजगृह' 'मिथला' हो,
'वैशाली' पहुँचे वे जिनपति॥

वर्षागम देख किया उनने,
ग्यारहवाँ चातुर्मास वहीं।
अब देखो, कितने दिन तक वे,
लेते न एक भी ग्रास कहीं॥

—×—

सत्तरहवाँ सर्ग

ध्रुव सत्य कथन है यह कोई,
उन्मत्त पुरुष की गल्प नहीं।
यह सब यथार्थ का चित्रण है,
इसमें न कल्पना अल्प कहीं॥

आहार हेतु बिनती करते—
थे 'वैशाली' के श्रेष्ठि प्रमुख।
पर 'वीर' अन्न औ' पानी से—
रहते थे प्रतिदिन पूर्ण विमुख॥

इससे अनुमान किया, मासिक—
तप है, इस कारण मूँद नयन।
ये ध्यानारूढ़ सदा रहकर,
करते रहते हैं आत्म मनन॥

सम्भवतः अब ये एक मास—
उपरान्त ध्यान यह त्यागेंगे।
बस, तभी उसी दिन अब मेरे—
ये भाग्य कदाचित् जागेंगे॥

पर मास समाप्त हुवा, फिर भी
प्रभु ने पुर को न प्रयाण किया।
रह निराहार ही ध्यान मग्न
उनने अपना कल्याण किया॥

की अतः कल्पना अब उनने—
होगा द्वैमासिक लगा ध्यान।
दो मास अनन्तर पर उनको
मिथ्या यह भी अनुमान लगा॥

क्रमशः त्रय मास समाप्त हुये,
पर उठे नहीं वे दृढ़ ध्यानी।
आहार दान के लिये बाट—
रह गये जोहते वे दानी॥

जब चार मास हो गये पूर्ण,
पूरा तब उनका योग हुवा।
मध्यान्ह समय चर्यार्थ चले,
पर कुछ विचित्र संयोग हुवा॥

जो श्रेष्ठि प्रमुख गत चार मास—
से उनका मार्ग निरखते थे।
औ' प्रायः उनके लिये शुद्ध—
आहार बनाकर रखते थे॥

जिनको आशा थी कि आज,
कर लूँगा सफल मनोरथ को।
औ' यही सोच जो देख रहे—
थे प्रभु के आने के पथ को॥

उन तक आने के पूर्व कहीं,
पड़गाह गये वे महा श्रमण।
कारण कि जहाँ विधिवत् मिलता,
कर लेते भोजन वहीं ग्रहण॥

वे वीतराग थे, निज भक्तों –
से भी अनुराग न करते थे।
इस वीतरागता का सपने—
में भी परित्याग न करते थे॥

अन्यत्र पारणा हुई, श्रेष्ठि—
को सुन यह हुई निराशा थी।
यद्यपि मन में रह गयी आज,
उनके मन की अभिलाषा थी॥

तो भी जिसने आहार दिया—
था, उस पर व्यक्त न रोष किया।
सौभाग्य सराहा उसका, निज–
दुर्भाग्य समझ परितोष किया॥

'वैशाली' से चल 'सूसुमार'
आये सिद्धार्थ-दुलारे वे।
पश्चात् 'भोगपुर' गये, वहाँ–
से 'नन्दी ग्राम' पधारे वे॥

फिर पहुँचे 'मेढिय गाँव' पुनः,
'कौशाम्बी' हेतु विहार किया।
औ' पौष-कृष्ण-प्रतिपदा-दिवस
मह घोर अभिग्रह धार लिया॥

आहार उसी से लूँगा मैं,
जो कन्या केश विहीना हो।
दासत्व प्राप्त, शृङ्खला बद्ध,
होकर भी सती कुलीना हो॥

जिसको त्रय दिवस अनन्तर कुछ
कोदों खाने को आया हो।
औ' वही मुझे दे देने को,
जिसका अन्तस् ललचाया हो॥

आहार करूँगा तभी ग्रहण,
जब होंगी बातें इतनी सब।
अब देखो, उन प्रभु के सम्मुख,
आती है दुस्थिति कितनी अब?

वे उक्त प्रतिज्ञा रख मन में,
जाते नगरी की ओर सदा।
पर कहीं प्रपूर्ण न होता था,
पूर्वोक्त अभिग्रह घोर कदा॥

यों निकल गये थे चार मास,
उनको चर्यार्थ निकलते अब।
पर नित्य लौट वे जाते थे,
रह जाते निज कर मलते सब॥

अब तक आहार न होने से,
भक्तों में बढ़ी विकलता थी।
पर 'महावीर' के अनस्तल--
में पूर्व समान अटलता थी॥

अब भी तो इसी कसौटी पर,
निज कर्म इधर वे कसते थे।
आहार दान के हेतु उधर,
सब श्रावक बन्धु तरसते थे।

पर 'वीर' कभी भी नहीं किसी—
से स्वीय अभिग्रह कहते थे।
ध्रुवतारे सी दृढ़ता अपना,
वे शान्त भाव से रहते थे॥

चिन्तित हो रानी 'मृगावती'—
ने राजा से यह बात कही।
"हो रही पारणा नहीं, तथा—
हो रहा अभिग्रह ज्ञात नहीं॥

हा! उन्हें हमारी नगरी में—
ही मिलती विधि अनुकूल नहीं।
आ रहे महीनों से हैं वे,
पर होती प्रतिदिन भूल कहीं॥

क्यों पता लगाते नहीं ? उन्हों—
ने लिया अभिग्रह कैसा है ?
क्यों नाथ ! हमारे शासन में,
हो रहा आज कल ऐसा है ?

यदि यहाँ पारणा हुई न तो
यह राज्य वृथा यह कोष वृथा।
औ' नहीं आज भर हमें सदा,
जनता देवेगी दोष वृथा ॥

अतएव अभिग्रह का हमको
अब सत्वर पता लगाना है।
फिर तदनुसार ही शीघ्र हमें,
साधन सम्पूर्ण जुटाना है ॥

इससे जैसे भी बने आप,
यह पता तुरन्त लगायें अब।
जिससे कि हमारी नगरी से
उपवासे सन्त न जायें अब ॥"

रानी ने राजा को सूचित—
यों निज हार्दिक उद्‌गार किये।
सुन जिन्हें भूप ने कहा कि अब
होगा अवश्य आहार प्रिये ॥

सचिवों को शीघ्र बुला कर मैं
इस पर कर रहा विचार अभी।
धर्माचार्यों से पूछ रहा,
अनगारों का आचार सभी॥

आहार दान की रीति पूँछ,
जनता को शीघ्र जता दूंगा।
सब सावधान हो पड़गाहें,
यह भी मैं उसे बता दूँगा॥

यों तो स्वभावतः हे रानी!
धर्मज्ञ हमारी जनता है।
पर जाने क्यों इतने दिन से,
कोई भी योग न बनता है॥

तुम धैर्य रखो मैं परामर्श—
कर उलझन को सुलझाता हूँ।
उनके भोजन को हर सम्भव
आयोजन मैं करवाता हूँ॥"

नृप 'शतानीक' ने यों रानी—
को प्रेम सहित समझाया था।
पर वास्तव में क्या यत्न करें!
यह नहीं समझ में आया था॥

जो यत्न किये, सब विफल रहे,
यह देख नरेश हताश हुये।
जो आशावादी श्रावक थे,
वे भी अब पूर्ण निराश हुये॥

था नहीं अभिग्रह विदित हुवा,
पञ्चम भी मास व्यतीत हुवा,
छठवाँ भी क्रमशः बीत चला,
पर कोई गृह न पुनीत हुवा॥

आओ, अब उससे परिचित हों,
जो बनने वाला दाता है।
अब यहाँ उसी का लघु परिचय,
इस समय कराया जाता है॥

श्री 'वृषभसेन' के यहाँ क्रीत—
'चन्दना' नाम की दासी थी।
जो 'चेटक' नृप की कन्या थी,
छवि में साक्षात् रमा सी थी॥

पर थी अभाग्य से पड़ी हुई,
माँ और पिता से दूर यहाँ।
उन उक्त श्रेष्ठि की गृहणी का
शासन रहता था क्रूर जहाँ॥

उस अपहृत अपनी भगिनी से,
मिलने का आज नियोग हुवा।
रह गयी न जिसकी आशा थी,
उससे सहसा संयोग हुवा।

अतएव 'चन्दना' को ले जा—
कर किया विविध आयोजन था।
निज राज भवन में अपने सँग
सस्नेह कराया भोजन था॥

औ' उसे पहिनने हेतु नये,
निज तुल्य वसन आभरण दिये।
तदनन्तर दोनो ने अतीत—
के व्यक्त कई संस्मरण किये॥

सब कहा 'चन्दना' ने कैसे
विद्याधर ने अपहरण किया?
किस भाँति बचाकर 'वृषभसेन'—
ने अपने गृह में शरण दिया॥

यह भी बतलाया मैं कैसे
करती सतीत्व का त्राण रही।
हर समय शील की रक्षा में
देने को तत्पर प्राण रही॥

फिर गये 'सुमङ्गल' 'सुच्छेता'
'पालक' सिद्धार्थ-दुलारे वे।
बारहवें चातुर्मास हेतु
फिर 'चम्पापुरी' पधारे वे॥

चातुर्मासिक तप धारण कर,
वे वहाँ ध्यान में लीन हुये।
उनके इस तप से भी जाने—
कितने ही कर्म विलीन हुये॥

द्विज 'स्वातिदत्त' ने भी चर्चा—
कर मान उन्हें विद्वान लिया।
कर चतुर्मास उन प्रभु ने फिर
'जंभियपुर' को प्रस्थान किया॥

औ' शीघ्र पहुँच कुछ समय वहाँ,
उनने ध्यानार्थ निवास किया।
फिर 'मिंढिय' हो 'छम्माणि' गये,
औ' ध्यान ग्राम के पास किया॥

उस समय ग्वाल ने कोप किया,
ध्यानस्थ किन्तु श्री 'वीर' रहे।
उसने जो जो भी कष्ट दिये,
सब सहते वे गम्भीर रहे॥

ग्वाले ने दुख दे हर्ष किया,
प्रभु ने दुख सह न विषाद किया।
उसने दुख देने में, प्रभु ने--
सहने में नहीं प्रमाद किया॥

ग्वाले ने अति निर्ममता की,
पर जमे रहे वे समता से।
उत्तम जन डिगते नहीं कभी
अधमों की अधम अधमता से॥

प्रभु बारह वर्षों से ऐसे,
कष्टों को सहते आये थे।
जितने भी थे उपसर्ग हुये,
सब में चुप रहते आये थे॥

गत उपसर्गों सम इसको भी
उनने समता से सहन किया।
ग्वाले के जाने पर उठकर,
'मध्यमा' ग्राम को गमन किया॥

इतने दिन सहे परीषह औ'
झेले उपसर्ग महान सभी।
औ' एक दृष्टि से ही देखे,
सम्मान सभी अपमान सभी॥

यों साढ़े बारह वर्ष चली,
तप की अति करुण कहानी यह।
कर्मों से करता युद्ध रहा,
इतने दिन तक सेनानी वह॥

इस दीर्घ अवधि में तीन शतक,
उनचास दिवस आहार किया।
अवशिष्ट दिनों में निराहार
निर्जल रह आत्म विहार किया॥

इस तप से जाने कितने ही—
तो कर्मों का संहार हुवा।
जाने कितने ही आत्म गुणों—
से भी उसका शृङ्गार हुवा॥

कर पुनः 'मध्यमा' से विहार,
चल पड़े स्वतन्त्र विहारी वे।
देखो, अब होने वाले हैं,
सम्पूर्ण ज्ञान के धारी वे॥

ईर्या से चलते हुये सतत,
वे पहुँचे 'जंभिय' ग्राम निकट।
देखा 'ऋजुकूला-सरिता तट—
पर एक 'साल' का वृक्ष विकट॥

उसके नीचे वे बैठ गये,
निश्चेष्ट बना निज काया को।
था पहिली बार दिखा ऐसा
ध्यानी उस तरु की छाया को।

प्रभु ने परिणाम विशुद्ध बना,
नासा पर दृष्टि झुकायी थी।
चढ़ 'क्षपक श्रेणि' पर शुक्ल ध्यान
में सारी शक्ति लगायी थी॥

हो गये घातिया कर्म नष्ट,
इतना उत्तम वह ध्यान किया।
वैशाख शुक्ल की दशमी को,
पा निर्मल केवल ज्ञान लिया॥

तत्काल विकृति सब दूर हुई,
सब प्रकृति स्वतः अनुकूल हुई।
औ' युगों युगों को वन्दनीय
उस सरिता तट की धूल हुई॥

उस दिन की इस शुभ घटना की
साक्षी अब भी ऋजुकूला है।
उसको इस मङ्गल बेला का
शुभ दृश्य न अब तक भूला है॥

कैवल्य-लाभ कर 'महावीर'
अब विश्वज्ञान के कोष हुये।
यह देख न केवल यहाँ, स्वर्ग—
में भी उनके जयघोष हुये॥

अब चरम दशा को पहुँच चुका—
था उनका दर्शन ज्ञान प्रखर।
अतएव हुये थे निज युग के
वे सर्वोपरि विद्वान प्रखर॥

अब उन्हें ज्ञान में तीन लोक—
औ' तीनों काल दिखाते थे।
कर तल गत से उन्हें स्वर्ग—
भूतल-पाताल दिखाते थे॥

यह अनुपम लाभ हुवा था पर,
उनको न अल्प भी गर्व हुवा।
कैवल्य-प्राप्ति का दिवस अतः
जगती को मङ्गल पर्व हुवा॥

सबने सोल्लास मनाया था,
कैवल्य प्राप्ति का वह मङ्गल।
'जय महावीर' 'जय महावीर'—
की ध्वनि से गूँजा था जङ्गल॥

ध्रुव सत्य कथन है यह कोई,
उन्मत्त पुरुष की गल्प नहीं।
यह सब यथार्थ का चित्रण है,
इसमें न कल्पना अल्प कहीं॥

ज्योतिषी सुरों ने समवशरण,
इतना अभिराम लगाया था।
जिसको विलोक कर लगता, भू—
पर स्वर्ग उतर कर आया था॥

उसमें प्रवेश पा सकते थे,
भूपाल सभी कङ्गाल सभी।
उसमें सहर्ष आ सकते थे,
सब ब्राह्मण औ चण्डाल सभी॥

जिस भाँति वहाँ आ सकते थे
पुण्यात्मा, धनपति, गुणी सभी।
उस भाँति वहाँ आ सकते थे,
पापी, निर्धन, निर्गुणी सभी॥

नर के समान आ सकते थे,
वृष, गज, तुरङ्ग, लंगूर वहाँ।
निर्भय प्रवेश कर सकते थे,
मैना, मधुघोष, मयूर वहाँ॥

पर प्रभु की दिव्यध्वनि द्वारा,
गूंजे थे अभी दिगन्त नहीं।
अतएव 'अवधि' से देवराज—
ने सोचा हेतु तुरन्त वहीं॥

अब चलो, पाठको ! देखें हम
आगे क्या घटना घटती है।
किस भाँति द्विजोत्तम 'इन्द्रभूति'—
की जीवन-दिशा पलटती है ?

जो निज विद्वत्ता के मद में
रहते थे प्रायः चूर अभी।
प्रभु समवशरण में आ उनका
मद कैसे होता दूर सभी॥

———

अठारहवाँ सर्ग

परिपूर्ण अहिंसा पालन से,
अब तक सबका निर्वाण हुवा।
हिंसा के द्वारा किसी जीव-
का नहीं कभी कल्याण हुवा॥

रच यज्ञ 'सोमिलाचार्य' विप्र-
ने बहु विद्वान जुटाये थे।
वेदाङ्ग विज्ञ थे जितने द्विज,
वे सब यज्ञार्थ बुलाये थे॥

अधिकांश द्विजों के सँग उनके-
प्रिय शिष्यों की भी टोली थी।
अतएव अतिथियों की संख्या
उस समय हजारों हो ली थी॥

ग्यारह तो ऐसे थे, जिनकी-
प्रज्ञा का नहीं ठिकाना था।
उत्सव की पूर्ण सफलता का
कारण उनका ही आना था॥

उनने इस अपनी विद्वत्ता-
की छाप सभी पर डाली थी।
वास्तव में विषय-विवेचन की,
उन सबकी रीति निराली थी॥

था बजा 'मध्यमा' में यद्यपि
उनकी इस प्रतिभा का डङ्का।
पर उन सबके भी अन्तस् में
थी एक एक रहती शंका॥

वे जिसे किसी को सूचित कर,
भी नहीं पूँछते थे उत्तर।
कारण, विद्वान् समझते थे,
वे अपने को सबसे बढ़कर॥

औ' नहीं किसी को साधारण
लगते थे उनके तर्क कदा।
यज्ञों में सर्व प्रथम मिलता-
था उनको ही मधुपर्क सदा॥

जब पढ़ते, लगता सरस्वती
स्वर में स्वयमेव उतरती है।
औ' स्वयं बृहस्पति की प्रज्ञा-
ही उन्हें अलंकृत करती है॥

सब विप्र योग्यता उन जैसी,
पाने के लिये तरसते थे।
बन शिष्य सैकड़ों ही उनके,
अपनी प्रतिभा को कसते थे॥

था कारण यही, किसी को जो-
निज शङ्का वे न बताते थे।
थी ख्याति रोकती, अतः प्रश्न,
करने में भी सकुचाते थे॥

इन ग्यारह में श्री 'इन्द्रभूति'
का होता सर्वाधिक आदर।
जो वहाँ पधारे थे 'गोवर-
पुर' से आमन्त्रित हो सादर॥

माना करते थे पाँच शतक-
चेले अपना आदर्श इन्हें।
औ' जाने कितनों को लौटा-
देना पड़ता प्रतिवर्ष इन्हें॥

श्री 'अग्निभूति' थे इनके ही-
भ्राता, जो शिक्षा देते थे।
औ' छात्र पाँच सौ इनसे भी,
वेदों की शिक्षा लेते थे॥

थे अनुज इन्हीं के 'वायुभूति'
था इनका भी उद्देश्य यही।
विद्यार्थी पाँच शतक इनके
मुख से सुनते उपदेश वही॥

'कोल्लाग'-निवासी विप्र 'व्यक्त'
थे व्यक्त जिन्हें द्विज धर्म सभी।
औ' शिष्य पाँच स ं इनसे भी
थे सीख रहे द्विज कर्म सभी॥

जब मान स्तम्भ विलोका तो
मानादि नष्ट सब क्षिप्र हुये।
इस समव शरण की महिमा को,
अवलोक चकित सब विप्र हुये ॥

अब उन्हें 'वीर' के वन्दन में—
ही भासा अपना क्षेम स्वयं।
पारस मणि के संसर्ग—लाभ—
से लोह हुवा था हेम स्वयं ॥

जो गर्व आज तक किया आज
उस पर मन ही मन क्षोभ हुवा।
औ' 'महावीर' के समवशरण—
में ही रहने का लोभ हुवा ॥

माना, मिथ्या मद के पिशाच—
से आज हमारा त्राण हुवा।
अब तक कल्याणाभास रहा।
वास्तविक आज कल्याण हुवा ॥

इस समवशरण में शरण मिली—
है आज हमें जग त्राता की।
हमने विलोक ली यह विभूति,
इन तीन लोक के ज्ञाता की ॥

यों वहाँ सभी को शान्ति मिली,
औ, नहीं किसी को त्रास हुवा।
इससे कुछ प्रश्न वहाँ करने—
का गौतम को उल्लास हुवा॥

पूँछा—"यह मण्डप तो मुझको,
होता मानव-कृत ज्ञात नहीं।
कारण, ऐसी रचनाएँ तो,
मानव के वश की बात नहीं॥

इससे इसके निर्माता का—
परिचय है मुझको ज्ञेय प्रभो।
नयनाभिराम इस रचना का,
किस शिल्पी को है श्रेय प्रभो॥

सर्वत्र अलौकिकता दिखती,
मण्डप के चारों ओर मुझे।
जो अपनी दिव्य छटाओं से,
करती है हर्ष विभोर मुझे॥

अतएव आज मम विस्मय का,
है नहीं कहीं भी अन्त अभी।
इतनी सुन्दर उपदेश-सभा,
देखी न आज पर्यन्त कभी॥

शिल्पी का नाम बतायेंगे,
है मुझे आपसे आशा यह ।"
इतना कह ज्यों ही मौन हुये,
त्यों हुई कर्ण गत भाषा यह ॥

"जब 'चन्द्र' इन्द्र ने जाना यह
अब बचे घातिया कर्म नहीं ।
तो समवशरण की रचना की
स्वयमेव मान निज धर्म यहीं ॥

सुन 'इन्द्रभूति' ने यह उत्तर,
यह प्रश्न पुनः तत्काल किया ।
"यह चन्द्र कौन है ? इसने गत-
भव में क्या पुण्य विशाल किया ?

यह सभी जानने को मेरा
जिज्ञासु हृदय ललचाया है ।
अतएव बतायें यह, इनने-
क्यों जन्म वहाँ पर पाया है ?"

उत्तर में सुना कि 'श्रावस्ती'
नामक पुर है प्राचीन यहीं ।
था 'अङ्कित' श्रेष्ठि किया करता,
व्यवसाय स्वीय स्वाधीन यहीं ॥

उसने सुनकर श्री 'पार्श्वनाथ'—
के वचन सभी कुछ छोड़ दिया।
संसार मार्ग से हो विरक्त
शिव-पथ से नाताजोड़ लिया॥

लक्ष्मी का आराधन तज,
आरम्भ किया सोऽहं जपना।
कर घोर तपस्या सफल किया,
दुर्लभ मानव-जीवन अपना॥

फल रूप 'ज्योतिषी' देवों में
पाया दुर्लभ अवतार वहाँ।
है 'चन्द्र' नाम का इन्द्र तथा
करता सुख सहित विहार वहाँ॥

जब अपनी निश्चित आयु-अवधि,
कर लेगा पूर्ण व्यतीत वहाँ।
तब ले 'विदेह' में जन्म स्वयं,
पायेगा मोक्ष पुनीत महा॥"

यह ज्ञान देख कर 'इन्द्रभूति'—
पर शीघ्र प्रभाव अतीव पड़ा।
सोचा, कैसे भ्रम- सागर में—
था अब तक मेरा जीव पड़ा॥

जो भी सुनने को मिला, हुवा—
उससे अतिशय सन्तोष उन्हें।
वे लगे मानने मन ही मन
अब विश्व ज्ञान का कोष उन्हें॥

फिर सोचा, बिना कहे मेरी—
शङ्का को ये साधार अभी।
निर्मूल करें तो मैं इनको
सर्वज्ञ करूँ स्वीकार अभी॥

यों अभी सोचते थे, इतने—
में ही तो दिया सुनायी यह।
"हे गौतम! तुमने निज शङ्का
अब तक क्यों व्यर्थ छुपायी यह॥

इस आत्मा के अस्तित्व-विषय
में रहती शङ्का नित्य तुम्हें।
जो जीव नित्य अविनाशी है
वह लगता क्षणिक अनित्य तुम्हें॥

ज्यों ही 'गौतम' ने प्रभु-मुख से
यह उत्तर सुना अनूठा था।
त्यों समझ गये, जो समझा था—
मैंने, वह सब कुछ झूठा था॥

यह समाचार सुन 'वायुभूति'—
ने शिष्यों सँग प्रस्थान किया।
प्रभु-ज्ञान-परीक्षा करना अब,
उनने भी मन में ठान लिया॥

पर समवशरण में आ ज्यों ही,
देखा प्रभु का अम्लान वदन।
त्यों समझ लिया ये प्रभुवर हैं,
सचमुच में केवल ज्ञान-सदन॥

वे प्रश्न पूँछने को ही थे,
इतने में दिया सुनायी यह।
"है जीव देह से भिन्न, बात—
क्या नहीं समझ में आयी यह॥

सुन 'वायुभूति' ने कहा—प्रभो।
मैं समझ न यह ही पाता हूँ।
अतएव आपको मैं अपनी,
शङ्का का सार बताता हूँ॥

कैसे है तन से भिन्न जीव?
आती न समझ में बात यही।
औ' पुनर्जन्म होता कि नहीं,
शङ्का रहती दिन रात यही॥

यह सुन कर प्रभुवर उसी समय,
हित मित प्रिय स्वर में बोल चले।
आगम के गूढ़ रहस्यों को,
अति सरल कथन से खोल चले॥

अस्तित्व तेल का ज्यों तिल से,
होता तुमको प्रतिभात पृथक्।
बस त्यों ही समझो वायुभूति,
है जीव पृथक् औ' गात पृथक्॥

मैं सुखी और मैं दुखी आदि,
जो करा रहा है भान तुम्हें।
यह नहीं देह का कार्य, जीव–
ही करा रहा यह ज्ञान तुम्हें॥

यदि तुम मानोगे जो कुछ है,
वह है केवल जड़ 'भूत' यहाँ।
तो कोई भी वैचित्र्य नहीं,
हो सकता है उद्भूत यहाँ॥

कारण कि 'भूत' कुछ भी करने–
में अपने आप समर्थ नहीं।
ये बिना नियोजक चेतन के,
कर सकते अर्थ अनर्थ नहीं।

तुम दुग्ध देख कर कर लेते,
उसमें घृत का अनुमान यथा।
सक्रिय शरीर से कर सकते–
हो आत्मा की पहिचान तथा॥

आशा है, समझ गये होंगे,
है नहीं द्रव्य जड़ मात्र यहाँ।
कर्माणुलिप्त यह चेतन ही,
होता सुख दुख का पात्र यहाँ॥

जब तक न कर्म हो जाते हैं,
सम्पूर्णतया निर्मूल यहाँ।
तब तक होता है पुनर्जन्म,
निज कर्मों के अनुकूल यहाँ॥

सुन 'वायुभूति' को जीव तत्व,
भासित होने प्रत्यक्ष लगा।
श्री 'वीर'—कथन निर्दोष लगा,
दूषित अपना वह पक्ष लगा॥

अतएव उन्होंने भी समस्त,
आरम्भ परिग्रह त्याग दिया।
यों बने तीसरे गणधर वे,
औ' स्वीय दुराग्रह त्याग दिया॥

अब 'आर्य व्यक्त' को सम्बोधित-
कर बोले वे जिनराज अहो ।
"क्या सिवा ब्रह्म के सब में ही,
शङ्का तुमको द्विजराज ! कहो ?"

यह सुनकर बोले 'आर्य व्यक्त'
"हे धर्म-राज्य-सम्राट ! कहीं।
सत् कहा है और असत्,
वर्णित है विश्व विराट कहीं ॥

वास्तव में जग सत् या कि असत्,
यह सुनने की अभिलाषा है।
कारण, हर भ्रम तम हरने में,
निष्णात आपकी भाषा है ॥"

यह सुन कर प्रभु ने कहा-"स्वप्न-
सम समझे हो तुम लोक सभी।
ब्रह्मातिरिक्त सब द्रव्यों को,
तुम रहे असत्य विलोक अभी ॥

पर यह 'स्वप्नोपं वै सकलं'
पद तो कोई विधि वाक्य नहीं।
उपदेश-वाक्य है उन्हें, जिन्हें-
जग से होता वैराग्य नहीं ॥

यह सूचित करता, नश्वर है,
माँ पिता पुत्र परिवार सभी।
आयुष्य अन्त में लेते हैं,
अन्यत्र नया अवतार सभी॥

अतएव मुमुक्षु विनश्वर सुख—
में नहीं कभी विश्वास करें।
एवं अविनाशी आत्मिक सुख—
पाने का सतत प्रयास करें॥"

यों 'आर्य व्यक्त' की शंकाएँ
कर दूर मौन श्री 'वीर' हुये।
औ,'आर्य व्यक्त' निजशिष्यों सँग,
मुनि बनने हेतु अधीर हुये॥

वे चौथे हुये गणधर तथा
धर लिया दिगम्बर वेष अहो।
पश्चात् 'सुधर्म' द्विजोत्तम से
बोले श्री 'वीर' जिनेश अहो॥

"जिसप्राणी का जिस जीव योनि—
से होता तन अवसान, वही—
निज योनि उसे फिर मिलती है,
क्या तुमको है श्रद्धान यही?

यह सुनकर बोले द्विज 'सुधर्म,
"मैं मान रहा हे सन्त ! यही।
नर नर होता पशु पशु होता,
मैं समझ रहा भगवन्त ! यही ॥

जलचर मर जल चर होता है,
औ' विहग मरण कर विहग यहाँ ॥
मर तुरग तुरग ही होता है,
औ' उरग मरण का उरग यहाँ ॥

है क्यों कि नियम, निज कारण के—
अनुरूप कार्य सब होते हैं।
तिल से तिल सदा उपजते हैं,
उत्पन्न नहीं जव होते हैं ॥

बस इसी प्रकार भ्रमर को भी
मर भ्रमर चाहिये होना फिर।
एवं प्रत्येक मगर को भी
मर मगर चाहिये होना फिर ॥"

यह सुन कर बोले 'महावीर'—
"मिथ्या यह ज्ञान तुम्हारा है।
एकान्त वाद के कारण यह
मिथ्या श्रद्धान तुम्हारा है ॥

वैसा न वस्तुतः है, तुमको—
जैसा कि समझ में आया यह।
घटता न नियम जन्मान्तर में,
जो तुमने यहाँ घटाया यह॥

यह सत्य कि तिल से तिल ही तो
होता सदैव उत्पन्न यहाँ।
पर भाव कार्य औ' कारण का
शारीरिक ही सम्पन्न यहाँ॥

इस भाँति पुरुष की भी सन्तति
होती है पुरुषाकार सदा।
एवं पशुओं से होता है,
पशुतन धारी अवतार सदा॥

यदि यह नियम न होता, तो—
सब कुछ होता प्रतिकूल यहाँ।
तरु-शाखा जनतीं मानव को,
नारी में खिलते फूल यहाँ॥

पर हे सुधर्म! हर प्राणी का—
ही जीव पृथक् औ' गात पृथक्।
उत्तर शरीर की बात पृथक्
औ' उत्तर भव की बात पृथक्॥

अतएव पूर्व तन उत्तर तन—
का कारण तो हो जाता है।
पर उत्तर भव के धारण का
यह हेतु नहीं हो पाता है॥

भव-प्राप्ति हेतु तो सदा जीव
के कर्मों का ही जाल रहा।
यह ही अनादि से चारों गति—
में सब जीवों को डाल रहा॥

उसको वैसी गति मिलती है,
जो कर्म बाँधता जैसा है।
होता है जैसा बीज-वपन
फल भी तो मिलता वैसा है॥

कर अशुभ कर्म यह जीव अशुभ
गतियों में यथा भटकता है।
शुभ कर्मबाँध शुभ गतियों में
उत्पन्न तथा हो सकता है॥

इसमें यह पूर्व भविक काया
सकती प्रभाव कुछ डाल नहीं।
नर सुर हो अमृत पी सकता,
हो सकता विषधर व्याल यहीं॥

भव-धारण का कारण केवल
सत्कर्म कुकर्म प्रताप सदा।
नर सुर गति देते पुण्य तथा
तिर्यञ्च नरक गति पाप सदा॥

अतएव कर्म पर आधारित—
है आगामी अवतार यहाँ?
एवं प्राणी के पुनर्जन्म—
का देह नहीं आधार यहाँ॥"

श्रीयुत 'सुधर्म' को उक्त वचन,
अक्षरशः सत्य प्रतीत हुये।
अतएव जिनेश्वर से दीक्षा—
लेने के भाव पुनीत हुये॥

निज छात्र वर्ग के संग सविधि
दीक्षा ले मन में तोष किया।
हो गये पाँचवें गणधर वे
सबने उनका जयघोष किया॥

तदनन्तर पास खड़े 'मण्डिक'—
की ओर 'वीर' ने ध्यान दिया।
कारण उनके भी अन्तस् की
जिज्ञासा को था जान लिया॥

बोले—"क्या तुमको बन्ध-मोक्ष —
तत्वों में है सन्देह कहीं ?
निज शंका प्रकट करो मन में--
दो उसे बनाने गेह नहीं ॥"

सुन 'मण्डिक' बोले–"मम मत से,
आत्मा निर्मल स्वाधीन सभी।
रहते सुस्फटिक सदृश उज्ज्वल,
होते हैं नहीं मलीन कभी ॥

इन पर न बैठने पाती है,
इन कर्मों की भी धूल कभी।
अतएव मोक्ष की सत्ता ही
मुझको लगती निर्मूल अभी ॥

सुन कहा नाथ ने--"सुनो, विप्र !
मैं सत्य स्वरूप सुनाता हूँ।
वास्तव में वस्तुस्थिति क्या है ?
यह अभी तुम्हें समझाता हूँ ॥

तुमने जो आत्मा का स्वरूप
वर्णन कर मुझे सुनाया है।
वह किनका वर्णन है ? तुमको--
यह नहीं समझ में आया है ॥

इस कारण ही तो तुम्हें हुवा
ऐसी शङ्का का भान अहो।
अतएव ज्ञान यह कर लो तो
मिट जाये सब अज्ञान अहो॥

वह वर्णन सिद्धात्माओं का,
सकते न देख ये नेत्र जिन्हें।
रखता है अपने यहाँ सदा
सिद्धालय का ही क्षेत्र जिन्हें॥

रह सदा अनन्त समय, अनुभव—
करते हैं सौख्य अनन्त वहीं॥
युग युग तक उनके उस अक्षय—
सुख का होता है अन्त नहीं॥

संसारी आत्मा को कदापि,
मिलता उन सम आनन्द नहीं।
कारण कि काट कर बन्धन यह
हो पाया है स्वच्छन्द नहीं॥

मोहोदय से यह निज कर्मों—
का नाश नहीं कर पाता है।
मिथ्यात्व—उदय से तत्वों पर
विश्वास नहीं कर पाता है॥

बीसवाँ सर्ग

हैं द्रव्यें नित्य अनादि सभी
इससे अनादि संसार सभी।
कोई न किया करता इसका
नव सृजन और संहार कभी।

प्रभुवर ने विप्र 'अचलभ्राता'—
की ओर तुरन्त निहारा अब।
बोले—"क्या पुण्य तथा पापों—
में शंकित हृदय तुम्हारा अब?"

यह सुनकर बोले 'अचल'—"इन्हीं—
में मम मन शंकित होता है।
ये पुण्य पाप हैं या कि नहीं?
यह तथ्य न निश्चित होता है॥

अतएव कहें, क्या वस्तव में—
ही पुण्य पाप ये होते हैं?
क्या ये यथार्थ हैं त्यों? यथार्थ—
ज्यों शीत ताप ये होते हैं॥"

इतना कह जब चुप हुये 'अचल'
बोले वे श्री अर्हन्त अहा।
"पण्डित! इनका न अभाव कभी-
भी यहाँ आज पर्यन्त रहा॥

तुम अभी 'पुरुष एवेदं' से,
जो कुछ समझे वह अर्थ नहीं।
ये वाक्य दूसरे तत्त्वों के—
निरसन के हेतु समर्थ नहीं॥

'पुण्यः पुण्येन' वचन से भी
खण्डित होता है कर्म नहीं।
द्विजवर! गर्भित है पुनर्जन्म
औ' कर्म तत्व का मर्म यहीं॥

इससे व्यवहारिक पुण्य पाप—
हैं तर्क युक्त, यह जानो तुम।
एवं इस पुरुषाद्वैतवाद—
को निराधार अब मानो तुम॥"

यह सुनकर दूर 'अचलभ्राता'
के मन का सब भ्रम जाल हुवा।
प्रभुवर से दीक्षा लेने का
मन में विचार तत्काल हुवा॥

की ग्रहण प्रव्रज्या शिष्यों सँग,
तन से परिधान हटाये सब।
नवमें गणधर ये हुये, अतः
सबने निज शीश झुकाये अब॥

परलोकवाद की सत्ता में
शंकित थे द्विज 'मेतार्य' अभी।
इससे इनके भी मन का यह
भ्रम हरना था अनिवार्य अभी॥

अतएव 'वीर' ने पुनर्जन्म—
का प्रतिपादन निर्दोष किया।
भूतातिरिक्त इस आत्मा को
कर सिद्ध इन्हें सन्तोष दिया॥

भ्रम दूर हुवा, इससे इनने—
भी तो स्वीकृत मुनिधर्म किया।
दसवें गणधर की पदवी पा
पहिचान धर्म का मर्म लिया॥

औ' शिष्य वर्ग भी निज गुरु का
अनुकरण तुरत कर धन्य हुवा।
कारण कि सभी को अति अपूर्व—
आनन्द प्रव्रज्या-जन्य हुवा॥

अब द्विज 'प्रभास' की भ्रान्ति व्यक्त—
करते बोले मुनिपाल अहो।
"क्या तुम्हें मोक्ष में शंका है?
सङ्कोच त्याग तत्काल कहो॥"

यह सुन 'प्रभास' ने कहा-"आप-
ने है यथार्थ ही भान किया।
मेरे कहने के पूर्व अहो,
मेरी शंका को जान लिया॥

कर्मों से मुक्ति असम्भव है,
ऐसा होता आभास मुझे।
अतएव मोक्ष की सत्ता में,
होता न अभी विश्वास मुझे॥

सम्बन्ध जीव औ' कर्मों का—
तो मैं अनादि से मान रहा।
पर वह आत्मा के ही समान—
होगा अनन्त, यह जान रहा॥

अब आप शीघ्र ही तो मेरी
इस शंका को निर्मूल करें।
संक्षिप्त रूप में ही मुझको
अब सूचित मेरी भूल करें॥"

प्रभु लगे बोलने मधु स्वर से,
ज्यों ही 'प्रभास' द्विज मौन हुये।
प्रभु के समक्ष अपनी शंका—
रख कर निराश भी कौन हुये॥

प्रभुवर ने कहा—"अनादि वस्तु—
होवे अनन्त, यह नियम नहीं।
द्विजवर! अनादि से मलिन स्वर्ण
निर्मल करना क्या सुगम नहीं?

ज्यों स्वर्ण अग्नि में पक अपना,
कल्मष देता है त्याग स्वयं।
त्यों आत्मा को निर्मल करती है,
तप, ज्ञान, ध्यान की आग स्वयं॥"

इस अति संक्षिप्त विवेचन से,
शंका 'प्रभास' ने त्यागी थी!
उनके भी मन में जिन-दीक्षा—
लेने की इच्छा जागी थी॥

निज शिष्य वर्ग के सङ्ग स्वयं,
दीक्षित हो बने विरागी वे।
तत्क्षण ग्यारहवें गणधर की,
पदवी पाये बड़भागी वे॥

यों ये दीक्षा के समारोह,
उस दिन अत्यन्त विराट् हुये॥
यह 'वीर'—महत्ता देख चकित,
सत्ताधारी सम्राट् हुये॥

वह दिवस विशेष महत्वपूर्ण,
बतलाया गया पुराणों में।
वह विजय शक्ति थी जिनवर में
जो रहती नहीं कृपाणों में॥

प्रभु के शरीर के मण्डन सा,
'भामण्डल' था अभिराम लगा।
जो सभी दर्शकों को रत्नों-
के दर्पण तुल्य ललाम लगा ॥

यों प्रभु के आठों प्रातिहार्य—
अवलोक स्वभाग्य सराहा था।
सबने सतृष्ण प्रभु-दिव्यध्वनि,
को ही अब सुनना चाहा था ॥

अतएव नरों के कोठे में,
जा गये विराज नरेश तभी।
औ' किया 'चेलना' ने वधुओं,
के कोठे मध्य प्रवेश तभी ॥

सब निर्निमेष हो देख रहे-
थे प्रभु का वदन-सरोज अहो।
जिस पर अत्यन्त झलकता था,
तप-ब्रह्मचर्य का ओज अहो ॥

सहसा सबके कल्याण हेतु,
धर्मोपदेश आरम्भ हुवा।
श्रावण कृष्णा प्रतिपदा दिवस,
दिव्यध्वनि का आरम्भ हुवा ॥

हे भव्यो ! जीव–अजीवों का–
समुदाय जगत कहलाता है ।
औ' पुग्दल, धर्म, अधर्म, काल,
आकाश अजीव कहाता है ॥

अतएव उक्त इन छह द्रव्यों-
से भिन्न वस्तु है लोक नहीं ।
इनमें से पुग्दल सिवा किसी–
को भी सकते अवलोक नहीं ॥

कारण कि अमूर्तिक होते वे,
इसमें है अल्प विवाद नहीं ।
उनमें न रूप, संस्पर्श नहीं,
है गन्ध नहीं, है स्वाद नहीं ॥

अतएव न देखे जा सकते,
वे चर्म चक्षुओं के द्वारा ।
पर विविध प्रमाणों से संभव,
पाना उनका परिचय सारा ॥

हर द्रव्य सदा से और सदा,
वह निश्चित रहने वाला है ।
पर कुछ ने भ्रम से ही अनित्य,
इन द्रव्यों को कह डाला है ॥

अतएव नित्यता पर इनकी,
सन्देह रहित विश्वास करो ।
स्याद्वाद-दृष्टि से तत्व-रूप—
के चिन्तन का अभ्यास करो ।।

पर्याय अवश्य बदलती है,
होती है प्राप्त नवीन यहाँ ।
एवं विनष्ट हो जाती है,
पर्याय मात्र प्राचीन यहाँ ।।

ज्यों एक वसन तज अन्य पहिन,
नर बदला करता वेष स्वयं ।
त्यों जीव एक तन त्याग अन्य-
में करता किया प्रवेश स्वयं ।।

अतएव मरण से होता है,
केवल तन का अवसान सदा ।
पर आत्मा नष्ट न होती है,
तुम करो यही श्रद्धान सदा ।।

हैं द्रव्यें नित्य अनादि सभी,
इससे अनादि संसार सभी ।
कोई न किया करता इसका,
नव सृजन और संहार कभी ।।

पर जीव भ्रमण कर रहा सतत
निज कर्मों के अनुसार यहाँ।
इसने निगोद में रह अनन्त,
दुख भोगे कई प्रकार वहाँ॥

फिर निकल वहाँ से एकेन्द्रिय,
हो कष्ट करोड़ों किये सहन।
फिर कृमि, पिपीलिका, भ्रमर आदि-
के भी शरीर सब किये वहन॥

मन रहित जन्तु यह कभी हुवा,
मन बिना दुखी असहाय हुवा।
मन सहित कभी वन-सिंह हुवा,
औ' कभी नगर की गाय हुवा॥

जो सबल हुवा तो निर्बल पशु-
को मार मार आहार किया।
इस अति हिंसा के फल स्वरूप
अनुभव संक्लेश अपार किया॥

औ' हुवा स्वयं जब निर्बल तो
प्रबलों ने असह्य हार किये।
बन्धन' छेदन औ' भेदन के
दुस्सह दुख बारम्बार दिये॥

जब मरा कभी तो नर्क गया,
है जहाँ कहीं पर क्षेम नहीं
सब शत्रु-शत्रु ही दिखते हैं,
करता है कोई प्रेम नहीं ॥

असमय में मरण न होने से
मिलता दुख से परित्राण नहीं।
आजीवन सहने पड़ते दुख,
होता कदापि कल्याण नहीं ॥"

पशु और नरक के कष्ट कहे
यों सर्व प्रथम जग त्राता ने।
मानव-पर्याय-विषय में अब
बतलाया यों उन ज्ञाता ने ॥

—×—

आक्रमण पड़ोसी भूपों पर
करना तज दिया नरेशों ने।
जो शत्रु रहे थे, उन्हें मित्र—
सा बना दिया उपदेशों ने॥

जो थे स्वभावतः क्रुद्ध जन्तु
अब त्याज्य उन्हें भी क्रोध लगा।
कहने का यह सारांश देव—
नर-पशु सबमें सद्बोध जगा॥

यों निज शासन छिन जाने से
हिंसा अत्यन्त निराश हुई।
औ' विश्व प्रेम की विजय देख
हो घृणा परास्त हताश हुई॥

विकसा जन-जन में साम्यवाद,
औ' भेद भाव का ह्रास हुवा।
सबको शूद्रों से प्रेम भाव—
रखने का भी अभ्यास हुवा॥

अब नहीं वेद-ध्वनि सुनने पर,
लगती थी उन पर रोक कहीं।
औ' उन्हें शिवालय जाने से
सकता था कोई टोक नहीं॥

यों प्रभु के इन उपदेशों से
परिवर्तित हृदय तुरन्त हुये।
केवल न धर्म में पर समाज—
में भी सुधार अत्यन्त हुये॥

उनकी वाणी में शिवद सत्य
हो सुन्दर स्वयं झलकता था।
सब मन्त्र मुग्ध हो सुनते थे
उनको कुछ भी न खटकता था॥

जिनराज 'राजगृह' तजें नहीं,
'श्रेणिक' को ऐसा लगता था।
पर समय किसी पर ध्यान न दे
निज निश्चित गति से भगता था॥

यह चतुर्मास हो गया, देख—
'श्रेणिक' ने मन कुछ म्लान किया।
पर वीतराग ने ध्यान न दे
निश्चित तिथि में प्रस्थान किया॥

उन 'परम ज्योति' को अभी अन्य—
नगरों का तिमिर गलाना था।
औ' ग्राम ग्राम के मानव को,
मानव का धर्म सिखाना था॥

इससे 'विदेह' की ओर चले,
'त्रिशला' के राजदुलारे वे ।
धर्मामृत देते हुये सभी —
को, 'ब्राह्मण कुण्ड' पधारे वे ॥

सुन समाचार सब जनता में,
प्रभु--दर्शन की अभिलाष जगी ।
अतएव दिव्य ध्वनि सुनने को,
वह आने द्रुत सोल्लास लगी ॥

था दूर न 'क्षत्रिय कुण्ड ग्राम'
पहुँचा झट यह वृतान्त वहाँ ।
पा जिसे वहाँ की जनता भी,
आ कर बैठी हो शान्त वहाँ ॥

शुभ अर्द्धमागधी भाषा में,
प्रवचन करने सर्वज्ञ लगे ।
सुन जिसे अधर्मी, अज्ञानी—
जन भी होने धर्मज्ञ लगे ॥

कुछ ऐसा जादू सा डाला,
श्रोताओं पर प्रभु-वाणी ने ।
जो शान्ति प्राप्ति का सही मार्ग,
विधिवत् समझा हर प्राणी ने ॥

प्रभु के समीप जिनदीक्षा ले,
मुनि कितने ही गुणवान हुये।
कितनों ने श्रावक धर्म लिया,
कितने ही श्रद्धावान हुये ॥

यों कर विहार 'वैशाली' में,
चौदहवाँ वर्षावास किया ।
प्रति दिवस वहाँ की जनता ने,
उपदेश श्रवण सोल्लास किया ॥

पश्चात् वहाँ से 'वत्स भूमि'—
की ओर पुनीत विहार किया ।
पथ में अनेक ही नगरों में,
ग्रामों में धर्म प्रचार किया ॥

यों क्रमशः उनने 'कौशाम्बी'–
नगरी में पहुँच प्रवेश किया ।
नृप ने चलने को दर्शनार्थ,
निज जनता को आदेश दिया ॥

'उदयन' की बुआ 'जयन्ती' भी,
आयीं उन सबके साथ वहाँ ।
उस वृहत्सभा में सदुपदेश,
देते थे त्रिभुवन नाथ जहाँ ॥

उपदेश श्रवण कर यथाशक्ति,
सबने नियमादिक किये ग्रहण ।
सबकी श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु,
बन गये यहाँ भी महाश्रमण ॥

पर सुन उपदेश 'जयन्ती' के—
मन में विशेषतः हर्ष हुवा ।
उस धर्मज्ञा के भावों में,
अब और अधिक उत्कर्ष हुवा ॥

उसको अब प्रभु की शरण त्याग,
गृह जाना नहीं सुहाता था ।
श्री 'वीर'—संघ में रहने में—
ही अब कल्याण दिखाता था ॥

अतएव आर्यिका के व्रत ले,
अपने को और महान किया ।
सम्मिलित संघ में हुई तथा,
क्रमशः आत्मिक उत्थान किया ॥

पश्चात् 'वीर' ने चल 'उत्तर—
कोशल' की ओर विहार किया ।
पथ में पावन उपदेशों से,
अगणित जन का उद्धार किया ॥

यों कर विहार 'श्रावास्ती' में,
पहुँचे वे आत्मविहारी थे ।
अविलम्ब यहाँ भी धर्मश्रवण—
हित आये सब नर नारी थे ॥

उपदेश यहाँ जो हुवा, उसे—
सुन सब जनता का क्षेम हुवा ।
सम्मिलित संघ में हुये कई,
यों जैन धर्म से प्रेम हुवा ॥

श्री 'सुमनोभद्र' प्रभृति ने जिन-
दीक्षा ली उन जग त्राता से ।
कर्त्तव्य ज्ञान पा लिया शीघ्र,
उन तीन लोक के ज्ञाता से ॥

'कोसल प्रदेश' से चल 'विदेह'
पहुँचे वे केवल ज्ञानी थे ।
'आनन्द' शिवानन्दा' दोनों,
बन गये धर्म--श्रद्धानी थे ॥

'वाणिज्य' ग्राम में 'महावीर'
निज संघ सहित फिर आये थे ।
अपने पन्द्रहवें चतुर्मास,
के दिन भी यहीं बिताये थे ॥

'वाणिज्य ग्राम' से निजविहार
फिर 'मगध भूमि' की ओर किया।
उपदेश सुनाकर नगरों की
जनता को हर्ष विभोर किया॥

पश्चात् 'राजगृह' पहुंचे वे,
सारी जनता एकत्र हुई।
अतिशय प्रभावना प्रवचन से
उस समय वहाँ सर्वत्र हुई॥

श्री 'शालिभद्र' औ' 'धन्य' आदि-
ने मुनि पद अङ्गीकार किया।
एवं गृहस्थ का धर्म कई—
ही भव्यों ने स्वीकार किया॥

गूँजी थी सारी 'राजगृही'
प्रभुवर के जय जयकारों से।
पड़ता प्रभाव था सब पर ही,
उनके पावन उद्गारों से॥

रुक यहीं पूर्ण इस सोलहवें
निज चतुर्मास का काल किया।
दुष्टों का जीवन सज्जनता—
के नव साँचे में ढाल दिया॥

उन 'परम ज्योति' ने जड़ता-तम
हर कर सद्बोध-प्रकाश दिया।
नैतिकता से पतित मनुष्यों के
भावों में परम विकास किया॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर
'चम्पा' की ओर विहार किया।
आकर 'चम्पा' के राजपुत्र—
ने श्रमणधर्म स्वीकार किया॥

पश्चात् 'वीतभय' नगर ओर
उन 'परम ज्योति' ने किया गमन।
ली भूप 'उदायन' ने दीक्षा
कर प्रभु-चरणों में प्रथम नमन॥

यों जहाँ पहुँचते 'वीर' वहीं—
के नृप बनते अनुगामी थे।
क्रमशः अधिकाधिक लोकमान्य
होते जाते वे स्वामी थे॥

पश्चात् 'वीतभय' पत्तन से
'वाणिज्य ग्राम' की ओर चले।
पथ में उपदेशों से जनता—
को करते हर्ष विभोर चले॥

'वाणिज्य ग्राम' आ पूर्ण किये,
वर्षा के महिने चार वहीं।
औ' इस सत्रहवें चतुर्मास—
में किया विशेष प्रचार वहीं॥

थीं वहाँ जिसे शङ्काएँ जो
वे सब प्रभु ने सुलझायीं थीं।
हिंसा को मिटा अहिंसा की
जय ध्वजा वहाँ फहरायी थी॥

फिर गये 'बनारस' को, पथ में—
शिवपुर का मार्ग बताते वे।
हर मानव को मानवता का—
पावनतम पाठ सिखाते वे॥

प्रभु में अति भक्ति दिखायी थी,
राजा 'जितशत्रु' प्रतापी ने।
उपदेश श्रवण कर पुण्य कर्म—
की शिक्षा ली हर पापी ने॥

बहुतों ने अपने जीवन में
धार्मिक सिद्धान्त उतारे थे।
'चुलनी' 'श्यामा' औ' 'सुरादेव'
'धन्या' ने व्रत स्वीकार थे॥

फिर चले 'बनारस' से, पथ में–
वे 'आलभिया' के पास थमे।
'पोग्गल' ने दीक्षा ले ली यों
मन में प्रभु के सिद्धान्त जमे ॥

फिर 'आलभिया' से 'राजगृही'—
की ओर पुण्य प्रस्थान किया।
औ 'यहाँ पहुँच 'किंकम' 'अर्जुन'
'मंकाती' को दीक्षा दान दिया ॥

यों अट्ठारहवाँ चतुर्मास—
यह 'राजगृही' में बिता दिया।
आओ' देखें प्रभु ने विहार
अब कहाँ कहाँ पर और किया ॥

-×-

बाईसवाँ सर्ग

सुन पतित पावनी दिव्यध्वनि
सबने निज कर्ण पवित्र किये।
दी त्याग शत्रुता सबने ही
औ' बना शत्रु भी मित्र लिये॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर—
भी वहाँ 'वीर' जगदीश रहे।
धार्मिक चैतन्य मनुष्यों में
नित भरते वे वागीश रहे॥

हित मित प्रिय भाषा में सुखकर
उपदेश सभी को देते थे।
सुन जिसे अनेक पुरुष आकर
प्रभुवर से दीक्षा लेते थे॥

यह देख दिया निज जनता को
'श्रेणिक' ने यह आदेश तभी।
'जो दीक्षा लेना चाहे, ले—
सुविधा दूंगा सविशेष सभी॥

जो कोई मुनि-पद धारण कर
करना चाहे उद्धार, करे।
परिवार आदि की चिन्ता तज
अनगार धर्म स्वीकार करे॥

एवं न कुटुम्बी भी उसके
निज को लें मान अनाथ अभी।
लेंगे परिपालन का उत्तर—
दायित्व स्वयं नरनाथ सभी॥

यह राजघोषणा सुन प्रमुदित
हो गये सभी नर-नारी थे।
इस नव उदारता हेतु भूप-
के सभी हुये आभारी थे॥

होकर निश्चिन्त पुरुष स्वीकृत-
करते मुनि धर्म पुनीत सतत।
उनके कुटुम्ब के व्यक्ति सभी,
गाते 'श्रेणिक' के गीत सतत॥

उस समय रानियों युवराजों-
के मन पर छाप विशेष पड़ी।
अब कठिन लगा उस राजभवन-
में रहना उनको एक घड़ी॥

इससे युवराजों ने मुनि हो,
परित्याग मोह का पाश दिया।
बन गयीं आर्यिका रानीं, यों-
उनने भी आत्म विकास किया॥

यों 'राजगृही' में हुई धर्म-
की यह प्रभावना बहुत बड़ी।
प्रत्यक्षदर्शिनी इस सबकी
वह 'पंच पहाड़ी' अभी खड़ी॥

इससे उनीसवाँ चतुर्मास-
भी यहीं किया इस बार पुनः ।
'कौशाम्बी' ओर विहार किया,
करने को धर्म प्रचार पुनः ॥

इस पथ में 'आलभिया' नगरी-
में रुक कुछ समय बिताया था ।
'ऋषभद्र पुत्र' आदिक अनेक
पुरुषों में ज्ञान जगाया था ॥

फिर 'आलभिया' से 'कौशाम्बी'
वे करुणा के अवतार गये ।
प्रभु निकट 'चण्ड प्रद्योत' संग
श्री 'उदयन' राजकुमार गये ॥

'अङ्गारवती' औ' 'मृगावती'-
के मन पर अधिक प्रभाव हुवा ।
तत्काल 'वीर' के चरणों में,
दीक्षा लेने का चाव हुवा ॥

आभरण भार से भासे औ'
परित्याज्य समस्त विभूति लगी ।
उन अबलाओं के अन्तस् में
यों प्रबल आत्म अनुभूति जगी ॥

बन गयीं 'आर्यिका' रोग सभझ
तज द्रुत हरेक सुख भोग दिया।
श्री 'वीर' संघ में रह कर्मों-
के क्षय का शुभ उद्योग किया॥

कुछ समय वहाँ रह फिर 'विदेह'-
की ओर गये वे महा श्रमण।
वर्षा के पहिले 'वैशाली'
आ पहुँचे करते हुये भ्रमण॥

औ यह बीसवें चतुर्मास
के पूरे चारों मास किये।
धर्मोपदेश सुन जनता ने
व्रत यथा शक्ति सोल्लास लिये॥

'वैशाली' से 'उत्तर विदेह'-
की ओर गये निर्मोही वे।
औ' 'मिथिला' होते हुये गये
क्रमशः 'काकन्दी' को ही वे॥

हो यहाँ प्रभावित 'धन्य' आदि
दीक्षा ले बने दिगम्बर यति।
तदनन्तर ही 'काकन्दी' से
पश्चिम की ओर बढ़े जिनपति॥

'श्रावस्ती' होते हुये गये,
'काम्पिल्य' नगर को त्यागी वे।
पश्चात् 'अहिच्छत्रा' होते,
'गजपुर' पहुँचे बड़भागी वे॥

धर्मोपदेश सुन बहुतों ने
ली 'वीर'-संघ में यहाँ शरण।
फिर लौट यहाँ से पहुँचे थे
'पोलासपुरी' वे महाश्रमण॥

'सद्दालपुत्र' ने यहाँ भक्त-
बन ग्रहण किये थे द्वादश व्रत।
यह देख 'अग्निमित्रा' पत्नी-
भी भक्त बनी हो पद पर नत॥

'पोलास पुरी से कर विहार
ग्रीष्मान्त समय तक किया भ्रमण।
'वाणिज्य ग्राम' फिर गये और
रुक गये यहीं पर महाश्रमण॥

अपने इकीसवें चतुर्मास-
पर्यन्त यहीं पर रहना था।
अतएव यहाँ की जनता के
भाग्योदय का क्या कहना था॥

गुणवान वहाँ थे जितने भी
वे और अधिक गुणवान हुये।
विद्वान वहाँ थे जितने भी,
वे और अधिक विद्वान हुये॥

यों नित प्रभावना करते ही,
पूरा वह वर्षावास किया।
फिर किया भ्रमण, सर्वत्र जनों—
ने धर्मामृत सोल्लास पिया॥

करते विहार यों 'कचंगला,
पहुँचे वे आत्म विहारी थे।
यह समाचार पा वन्दनार्थ,
आये अगणित नर नारी थे॥

सुन पतित पावनी दिव्यध्वनि
सबने निज कर्ण पवित्र किये।
दी त्याग शत्रुता सबने हो
औ' बना शत्रु भी मित्र लिये॥

'स्कन्दक' ने भी तब समवशरण—
में आ सोत्साह प्रवेश किया।
हो चकित 'वीर' की शान्तिमयी
छवि का दर्शन अनिमेष किया॥

सविनय प्रदक्षिणा तीन तुरत—
दे सूचित हर्ष विशेष किया।
फिर हस्त जोड़ कर प्रकट स्वयं,
ही आने का उद्देश्य किया॥

सुन उनका संशय दूर किया,
प्रभु ने अत्यन्त सरलता से।
'स्कन्दक' हो गये प्रभावित अब,
उनकी इस ज्ञान प्रबलता से॥

अतएव 'वीर' के कथित मार्ग—
में ही दिखलायी सार दिया।
तत्काल त्याग उपकरण सभी,
यह श्रमण धर्म स्वीकार किया॥

श्री 'वीर' गये 'श्रावस्ती' फिर
बनता आयी सोत्साह यहाँ।
कुछ समय बहाया शान्ति सहित
धर्मामृत—सरित—प्रवाह यहाँ॥

'श्रावस्ती' से चलकर 'विदेह'—
को वे आध्यात्मिक सन्त गये।
पथ में उन पर अज्ञान कई—
जन दिखलाते अत्यन्त गये॥

वाणिज्य ग्राम[1] में तेइसवाँ
चौमासा करने ठहर गये।
तदनन्तर 'ब्राह्मण कुण्ड' गये,
फिर वे 'कौशाम्बी' नगर गये॥

पश्चात् 'राजगृह' पहुँच गये,
धर्मामृत धार बहाते वे।
निज शक्त्यनुसार सभी जनको
व्रत अङ्गीकार कराते वे॥

चौबिसवाँ वर्षावास यहीं-
पर कर पश्चात् विहार किया।
'कोणिक' की राजपुरी 'चम्पा'-
में आकर धर्म प्रचार किया॥

राजा 'कोणिक' निज प्रजा सहित
उस धर्म-सभा में आये थे।
धर्मोपदेश सुन बहुतों ने
मुनियों के व्रत अपनाये थे॥

'चम्पा' से चलकर प्रभुवर ने
विहरण 'विदेह' की ओर किया।
पथ में 'काकन्दी' में रुककर
भक्तों को हर्ष विभोर किया॥

फिर कर पचीसवाँ चतुर्मास
'मिथिला' में धर्म प्रचार किया।
वर्षा समाप्ति पर 'अङ्गदेश'-
की ओर पुनीत विहार किया॥

फिर 'चम्पा' आये राजवंश-
को सुख का मार्ग दिखाने को।
दुख ग्रस्त राजमाताओं के
मन में वैराग्य जगाने को॥

जग की असारता कह प्रभु ने
डाली कुछ ऐसी छाप तभी।
सुन जिसे रानियों ने त्यागा
पति-सुत-वियोग का ताप सभी॥

पा बोध राजमाताओं ने
सब चिन्ताओं को छोड़ दिया।
अपने जीवन की नौका को
संयम के पथ पर मोड़ लिया॥

संयोग सभी हैं वियोगान्त
यह पूर्णतया वे जान गयीं।
जग की असारता का स्वरूप-
भी भली भाँति पहिचान गयीं॥

वर्षा समाप्ति पर 'मिथिला' से
चल 'मगध' ओर पर्यटन किया।
जागृति का शंख बजाते यों
फिर 'राजगृही' को गमन किया॥

श्री 'अग्निभूति' औ' 'वायुभूति'
नामक गणधर ने नश्वर तन।
परित्याग मोक्ष को प्राप्त किया,
कर एक मास का शुभ अनशन॥

यह इकतालिसवाँ चतुर्मास
प्रभुवर ने यहीं बिताया था।
अगणित भव्यों के अन्तस् में
पावन वैराग्य जगाया था॥

वर्षा व्यतीत हो जाने पर-
भी नहीं कहीं प्रस्थान किया।
रह यहीं महीनों जनता का
कल्याण किया, उत्थान किया॥

'अव्यक्त' 'अकम्पिक' 'मौर्यपुत्र'
'गरिडक' गणधर ने देह यहीं।
इस बीच त्याग निर्वाण प्राप्त-
कर लिया, करो सन्देह नहीं॥

फिर कर प्रस्थान 'अपापा' पुर-
में वे निष्पाप पधारे थे।
धर्मोपदेश सुन यहाँ सभी-
ने व्रत नियमादिक धारे थे॥

प्रभु ने प्रसङ्गवश कालचक्र-
का वर्णन यहाँ सुनाया था।
जग के दुःखों औ' भ्रमणों का
भीषण तम रूप दिखाया था॥

सुन जिसे अनेक मनुष्यों ने
होकर विरक्त यम-नियम लिये।
जिस विधि से प्रभु ने बतलाया
आचरण उसी विधि स्वयम् किये॥

था नाम 'अपापा' पर यथार्थ-
में अब वह नगर अपाप हुवा।
गृह गृह में होने लगा पुण्य
सुख बढ़ा, दूर सन्ताप हुवा॥

कोई भी वणिक न करता था
अब पापमयी व्यापार वहाँ।
परिपूर्ण रूप से किया गया-
था पावन धर्म प्रचार वहाँ॥

यों इस प्रचार में सतत 'वीर'
को मिली अपूर्व सफलता थी।
इसका कारण कुछ नहीं अन्य,
उनके मन की निर्मलता थी॥

उनतीस वर्ष से यों अब तक
चलता प्रचार निर्बाध रहा।
कारण प्रभुवर का ज्ञान-सिन्धु-
सागर से अधिक अगाध रहा॥

करने ब्यालिसवाँ चतुर्मास,
'पावापुर' को इस बार चले।
पथ में अनेक ही भव्यों का,
करते आत्मिक उद्धार चले॥

थे 'पावा' के नृप 'हस्तिपाल'
'सिद्धार्थ-लाल' के भक्त परम।
अतएव 'वीर' के शुभागमन-
पर हर्ष किया अभिव्यक्त परम॥

इस पुण्ययोग को माना था,
राजा ने अपना भाग्य महा।
केवल न उन्होंने अपितु प्रजा-
ने भी समझा सौभाग्य महा॥

सबने श्रद्धा से प्रेरित हो,
निज कर्त्तव्यों का भान किया।
सोल्लास नगर की सज्जा में
सबने सहयोग प्रदान किया॥

अविलम्ब हुवा गृह द्वारों का
बन्दनवारों से अलङ्करण।
हर चौराहे पर द्वार बने,
बँध गयीं ध्वजायें चित्तहरण॥

कर स्वच्छ सुगन्धित जल द्वारा
दी गयी सींच हर राह वहाँ।
यों विविध उपायों से नगरी
दी गयी सजा सोत्साह वहाँ॥

सबने पहिने आभरण वसन
अपने पद के अनुरूप नये।
यों सजधज अपनी प्रजा सहित
प्रभु-वन्दन को वे भूप गये॥

'सन्मति' जिनेश का दर्शन कर
हर्षित अत्यन्त नरेश हुये।
रह शान्त उन्होंने सभी सुने
जो वहाँ धर्म-उपदेश हुये॥

हो रहा प्रभावित प्रतिपादन—
की शैली से हर श्रोता था।
शङ्कालु वहाँ पर निमिष मात्र
में अपना भ्रम-तम खोता था॥

धर्मोपदेश यों प्रभुवर का—
नित होता था अविरोध वहाँ।
अतएव निरन्तर होता था
कितनों को ही सम्बोध वहाँ॥

स्वीकार अहिंसा धर्म वहाँ
आ करते राजा रङ्क सभी।
आ नाग त्यागते डसना औ'
वृश्चिक न मारते डंक कभी॥

वनराज वहाँ पर कामधेनु—
से भोले भाले लगते थे।
विषधर भीतर से उज्वल थे
बाहर से काले लगते थे॥

'पावा' को भूला अभी न वह
सिंहों गायों का मधुर मिलन।
लगता, ज्यों वन के भाई से
मिलती हो कोई ग्राम्य बहन॥

अगणित प्रकार के जीव साथ
करते थे केलि कलाप वहाँ।
कारण, सब वैर-विरोध दूर,
होता था अपने आप वहाँ॥

सर्पों को अपने पङ्खों पर,
बैठाते स्वयं कलापी भी।
औ' मीन पकड़ना छोड़ रहे—
थे बगुला जैसे पापी भी॥

इस भाँति चरम इस चतुर्मास—
से नर-पशु सबको लाभ हुये।
औ' लोक ख्याति के चरम शिखर-
को प्राप्त 'वीर' अमिताभ हुये॥

पर क्रूर काल से नहीं किसी—
की देखी गयी भलाई है।
इसने न किसी की चलने दी
पर अपनी सदा चलाई है॥

आषाढ़ गया, 'रक्षा बन्धन'—
का पर्व लिये आया सावन।
ज्यों ही वह गया कि भाद्र मास
पहुँचा ले 'पर्यूषण' पावन॥

वह विदा हुवा, आश्विन आया,
विकसा सित कांस, रुकी वर्षा।
नदियों का नीर हुवा निर्मल,
वृक्षों का हर पल्लव हर्षा॥

कार्तिक को शासन सूत्र सौंप
चल पड़ा एक दिन वह भी तो।
दिन एक एक कर निकल चला
क्रमशः ही महिना यह भी तो॥

शुभ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी
दिन सोमवार क्रमवार गया।
आ गयी निशा, नक्षत्र स्वाति—
पर आ निशिनाथ पधार गया॥

चौथे युग के त्रय वर्ष सार्ध
ही आठ मास थे शेष रहे।
इकहत्तर वत्सर तीन मास
पच्चिस दिन के जैनेश रहे॥

मंङ्गल-प्रभात था हुवा न पर
मङ्गल सूचक ग्रह सारे थे।
श्री महावीर के कर्मों सम
हो रहे विरल अब तारे थे॥

ऐसे मुहूर्त में कर्म नाश—
कर 'महावीर' अब सिद्ध हुये।
उनके निर्वाण-समय के क्षण,
बन पावन पर्व प्रसिद्ध हुये॥

उनका आत्मा जा सिद्ध शिला-
पर तत्क्षण ही आसीन हुवा।
सब कर्म पाश कट जाने से,
वह था प्रपूर्ण स्वाधीन हुवा॥

अब उनके ज्ञान तथा दर्शन,
सुख शक्ति सभी निस्सीम हुये।
थे मिले अनन्त चतुष्टय ये,
इससे गुण सभी असीम हुये॥

निर्वाण मनाने अतः जुड़े,
तत्काल वहाँ पर सब नर सुर थे।
सब अपनी भक्ति प्रकट करने—
के हेतु विशेष समातुर थे॥

'मङ्गल' का मङ्गल अरुणोदय,
विहँसा, खग लगे चहकने अब।
खिल गये कमल औ' दिग् दिगन्त,
सौरभ से लगे महकने अब॥

यों लगा कि जैसे गाते हों,
प्रभु की गरिमा ही सर्व विहग।
औ' भक्ति विभोर सरोवर हो,
बिखराते होवें गन्ध सुभग॥

कर रहे आज सब चर्चा थे,
प्रभुवर की त्याग कहानी की।
उनको सराहती थी वाणी,
हर ज्ञानी हर अज्ञानी की॥

'पावा' के सर पर आये सब,
जिसको जैसे ही ज्ञात हुवा।
यों लगा, मनाने कल्याणक-
ही उस दिन स्वर्ण प्रभात हुवा॥

सुर अग्निकुमार सुरेन्द्र सहित,
निर्वाण मनाने आये थे।
सुर वायु कुमार सुरेन्द्र सहित,
निज धर्म निभाने आये थे॥

तब अग्निकुमार-किरीटों से,
ज्वाला कण लगे निकलने थे।
जिससे कर्पूर अगर, चन्दन,
लग गये उसी क्षण जलने थे॥

इन्द्रों ने इसमें ही अन्तिम—
प्रभु का अन्तिम संस्कार किया।
प्रभु के वियोग में भी नियोग,
सम्पूर्ण समस्त प्रकार किया॥

यों अन्त्य क्रिया के करने में,
बीता वह प्रातःकाल अहो।
फिर गाते र दिवस भर सब,
प्रभुवर-गुण की जयमाल अहो॥

क्रमशः मध्याह्न व्यतीत हुवा,
अति मन्द दिनेश प्रकाश हुवा।
सन्ध्या आयी औ' तिमिर जाल-
से व्याप्त अखिल आकाश हुवा॥

तम के काजल से लिप्त हुये,
प्रत्येक दिशा के कोने थे।
प्राकृतिक दृश्य तिमिराञ्चल में,
अब लगे तिरोहित होने थे॥

श्री 'परमज्योति' थे नहीं अतः
यह तिमिर विशेष अखरता था।
उन वीतराग के देह, त्याग-
का सबको क्लेश अखरता था॥

बाहर तो तम ही तम था पर,
भीतर भी तिमिर दिखाता था।
थे नहीं जिनोत्तम इससे तम,
अब आज विशेष सताता था॥

अतएव जला कर दीपावलि,
आलोकित अवनी-गगन किये।
नव दीप ज्योति से 'परम ज्योति'-
की पूजा कर संस्तवन किये॥

दीपावलि से जगमगा उठी,
'पावापुर' की हर डगर डगर।
हर राजमार्ग ही नहीं, अपितु,
हर गली हुई थी जगर मगर॥

यों दीपमालिका पहिन आज,
लगता था अति अभिराम नगर।
उन 'परम ज्योति' की संस्मृति अब
थी करा रही यह ज्योति प्रखर॥

मङ्गल प्रदीप थे जले और,
दिन भी तो उस दिन मङ्गल था।
अतएव वहाँ अब रह सकता,
कैसे उस दिवस अमङ्गल था॥

केवल न नगर ही जङ्गल भी,
गूँजे थे मङ्गल गानों से।
थीं दशों दिशाएँ व्याप्त हुईं,
प्रभु-संस्तुति की मृदु तानों से॥

चारों वर्णों की जनता ने,
थे दीप जलाये निज घर में।
तब से हर वर्ष मनाते हैं
जन दीपावलि भारत भर में॥

'काशी' 'कौशल' के अठारह
भूपों ने दीप जलाये थे।
'लिच्छवी' मल्ल गणतन्त्र संघ-
भी दीप जला हर्षाये थे॥

यों राष्ट्र पर्व यह भारत में
तब से होता आ रहा चला।
हर वर्ष 'वीर' की संस्मृति जन
करते सजीव शुभ दीप जला॥

कार्तिक कृष्णा की चतुर्दशी-
को कर्कट-कर्म हटाये थे।
श्री 'वीर' कर्म मल से विमुक्त
हो शुद्ध, सिद्ध पद पाये थे॥

अतएव भवन से कुटियों तक-
का कर्कट टाला जाता है।
हर गृह में गृह की शुद्धि हेतु
मल सभी निकाला जाता है॥

उस दिन ही केवल ज्ञान रूप
लक्ष्मी पायी थी गौतम ने।
जिसकी देवों ने पूजा की
पर भ्रान्त किया जग को भ्रम ने॥

वह गृह-लक्ष्मी की पूजा कर
कर लेता है सन्तोष अतः।
संज्ञा 'गणेश' है गणधर की
होता उनका जयघोष अतः॥

प्रभु 'महावीर' के समवशरण-
में थे बारह कोठे सुन्दर।
जिनमें मुनिराज, आर्यिका औ'
श्राविका, ज्योतिषी, सुर, व्यन्तर॥

इन्द्राणी, भवननिवासी सुर
शशि, सूर्य आदि भी देव सभी।
विद्याधर, मानव, सिंह आदि
पशु पक्षी आ स्वयमेव सभी॥

चुपचाप बैठ कर सुनते थे
प्रभु का पावन उपदेश वही।
नर पशु के विविध खिलौने भी
रखने का है उद्देश यही॥

देवों ने बरसा रत्न वहाँ
प्रभु का निर्वाण मनाया था।
निर्वाण भूमि को भी उनने
सोल्लास विशेष सजाया था॥

इस कारण खील बताशे ही
बाँटा करते नर-नारी अब।
औ' चित्रों से चित्रित करते–
हैं गृह की भित्ति अटारी अब॥

उस दिन से 'पावा' के रज कण
शुभ तीर्थ समान पवित्र लगे।
रख गयीं मन्दिरों में प्रतिमा
भवनों में उनके चित्र टँगे॥

संस्मारक रूप अनूप स्तूप,
'पावा' में गया बनाया था।
उनकी संस्मृति में राज्यों में
सिक्का भी गया चलाया था॥

श्री 'वर्धमान' इस पुण्य नाम-
पर 'वर्धमान' था नगर बना।
औ' 'वीर' नाम पर 'वीरभूमि'
नामक पुर अतिशय सुघर बना॥

प्रभु के विहार का प्रमुख क्षेत्र
था, अतः 'विदेह' 'बिहार' बना।
निर्वाण-दिवस वह भारत का
राष्ट्रीय महा त्योहार बना॥

शुभ वर्ष छियासी चौबिस सौ-
का समय अभी तक बीत गया।
कार्तिक शुक्ला से होता है
संवत् आरम्भ पुनीत नया॥

बदला करता हर वर्ष 'वीर-
संवत् ही इस दिन मात्र नहीं।
व्यापारी इस दिन ही बदला-
करते अपने मसिपात्र वहीं॥

जब 'महावीर' निज अष्ट कर्म-
का पुञ्ज नष्ट कर मुक्त हुये।
तब 'गौतम' गणधर 'वीर-संघ'
के नायक प्रमुख नियुक्त हुये॥

बारह वर्षों में जब अकाल—
का पूर्णतया अवसान हुवा।
तब जैन संघ का फिर उत्तर
भारत को शुभ प्रस्थान हुवा॥

आ यहाँ उन्होंने देखा अब,
शिथिलित हो मुनि श्री हीन हुये।
कुछ श्वेत वसन भी धारण कर
श्वेताम्बर साधु नवीन हुये॥

पश्चात् हुये मुनि एकादश,
एकादश अंगों के ज्ञानी।
जो दश पूर्वों के धारक थे
थे सच्चे धार्मिक सेनानी॥

ये वर्ष एक सौ तेरासी—
तक करते रहे प्रचार अभय।
फिर पाँच मुनीन्द्रों ने दो सौ
औ' बीस वर्ष के दीर्घ समय—

तक सुस्थिर ग्यारह अङ्ग रखे,
फिर पाँच मुनीश्वर और हुये।
सौ अधिक अठारह वर्ष जो कि
दे अङ्ग ज्ञान सिर मौर हुये॥

छह सौ तेरासी वर्षों तक,
यों यहाँ प्रचारित 'अङ्ग' रहे।
फिर चालिस वर्षों तक प्रचार—
के कुछ वैसे ही ढंग रहे॥

फिर 'पुष्पदन्त' औ' 'भूतबली'
ने आगम ग्रन्थाकार किया।
षट् खण्डागम में गूँथ 'वीर'—
की वाणी अति उपकार किया॥

है दिक दिगन्त में परम ज्योति'—
का वह ही धर्म-प्रकाश यहाँ।
अतएव अन्त में पुनः उन्हें,
कर रहा नमन सोल्लास यहाँ॥

परिशिष्ट संख्या १

(पारिभाषिक शब्द कोष)

शब्द संख्या २८९

प्रस्तावना

परिग्रह—ममत्व भाव, इसके २४ भेद हैं। मिथ्यात्वादि १४ प्रकार का अन्तरङ्ग और क्षेत्रादि १० प्रकार का बाह्य। ये सब ममता के कारण हैं, इससे ये परिग्रह हैं।

निर्जरा—कर्मों का एक देश झड़ना, यह दो प्रकार है सविपाक और अविपाक।

अहिंसा—प्रमाद से प्राणों का घात न करना। अहिंसा दो प्रकार की है- एक अन्तरङ्ग और दूसरी बहिरङ्ग। क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय होने से ही हिंसा होती है, कषाय रहित भाव रखना अहिंसा है।

अपरिग्रह—परिग्रह का न होना, परिग्रह त्याग।

पहला सर्ग

हिमालय—भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर स्थित एक पर्वत-माला (इसकी चोटियाँ बहुत ऊँची हैं और उन पर बराबर बर्फ जमी रहती है। सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट है जिसकी ऊँचाई २९०००२ फीट है और जो संसार की सबसे ऊँची चोटी है)।

गङ्गा—भारतवर्ष की एक प्रधान और पवित्रतम नदी।

किन्नर—देव योनि की चार श्रेणी हैं, इनमें दूसरी श्रेणी के देव विविध—देश देशान्तरों में रहने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इन व्यन्तरों के प्रथम भेद का नाम किन्नर है।

कुलकर—महान् पुरुष प्रजा को मार्ग बताते हैं, इन्हें मनु भी कहते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी की कर्मभूमि की आदि में तीर्थंकरों के जन्म से पहिले होते हैं। इस भरत क्षेत्र के गत तीसरे काल में जब पल्य का आठवाँ भाग शेष रहा तब कुलकर एक दूसरे के पीछे क्रमशः १६ हुये।

नाभि—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के चौदहवें कुलकर श्री ऋषभदेव के पिता।

बाहुबलि—श्री ऋषभदेव के पुत्र।

भरत—श्री ऋषभदेव के पुत्र, चक्रवर्ती।

बलदेव—प्रत्येक अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के दुखमा सुखमा काल में होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में ९ हुये। विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दीमित्र, पद्म (राम) बलदेव।

रामचन्द्र—आठवें बलभद्र, माँगीतुंगी से मोक्ष गये।

हनुमान—१८ वें कामदेव, मांगीतुंगी से मोक्ष, रामचंद्र के समय में विद्याधर (वानरवंशी)।

सीता—श्री रामचन्द्र की परम शीलवती भार्या, जिसने रावण के द्वारा हरी जाने पर भी शील की रक्षा की, अन्त में अर्यिका हो १६ वें स्वर्ग गयी।

रावण—वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के ८ वें प्रति-नारायण, सीता को हरण कर तीसरे नर्क गये।

चक्री—छः खण्ड की पृथ्वी के स्वामी, भरत व ऐरावत में प्रत्येक उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी में जब तीर्थंकर २४ होते हैं तब ये १२ होते हैं।

केवलज्ञानी—सर्वज्ञ भगवान परमात्मा अर्हन्त व सिद्ध।

त्रिभुवन—स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल इन तीन भुवनों का समाहार।

जात कर्म—पुत्र जन्म के अवसर पर किया जाने वाला एक, संस्कार, सोलह संस्कारों में से चौथा।

मति ज्ञान—मतिज्ञानावरण कर्म व वीर्यान्तराय क्षयोपशम से पाँच इन्द्रिय या मन द्वारा सीधा पदार्थ को जानना। इसके ३३६ भेद हैं।

श्रुत ज्ञान—मति ज्ञान से निश्चय किये हुये पदार्थ के आलम्बन से उस ही पदार्थ को सम्बन्ध लिये हुये अन्य किसी पदार्थ का जानना। यह मतिज्ञान पूर्वक होता है। इसके दो भेद हैं—एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक।

अवधि ज्ञान—जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये रूपी पदार्थ को स्पष्ट व प्रत्यक्ष जाने। इस ज्ञान के लिये इन्द्रिय तथा मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती। देव नारकियों को अवधि ज्ञान जन्म से ही होता है।

आरम्भ—मन, वचन, काय से अनेक प्रकार के व्यापार आदि कार्य करना।

नवाँ सर्ग

नय—वस्तु के एक देश जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। श्रुत ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं। इसके मूल दो भेद हैं, निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय के भी दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

प्रमाण—सच्चा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान। प्रमाण पाँच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान।

तर्क—चिन्ता व्याप्ति का ज्ञान, अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति है। जहाँ जहाँ साधन होना वहाँ वहाँ साध्य का होना और जहाँ जहाँ साध्य न हो वहाँ वहाँ साधन का न होना, इसे अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे धूम साधन है अग्नि का, जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य है। जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम नहीं हो सकता, ऐसा मन में जो पक्का विचार वह तर्क है।

दार्शनिक—दर्शनशास्त्र का जानकार।

काव्य—वह रचना जो रसात्मक हो, कविता।

चित्र—कागज, कपड़े आदि पर बनी हुई किसी वस्तु की प्रतिमूर्ति।

गणित—संख्या, मात्रा, अवकाश आदि का विचार करने वाला शास्त्र।

वाक्य—पदों का वह समूह जिससे वक्ता का अभिप्राय स्पष्टतः समझ में आ जाये।

राजनीति—राज्य की रक्षा और शासन को दृढ़ करने का उपाय बताने वाली नीति।

मनोविज्ञान—मन की प्रकृति, वृत्तियों आदि का विवेचन करने वाला विज्ञान, मानस शास्त्र।

विद्यालय—वह स्थान जहाँ अध्ययन किया जाता है, विद्यागृह।

संसारी—जो कर्म बन्ध सहित जीव अनादि से नरक, पशु, मनुष्य, देव गति में भ्रमण कर रहे हैं।

मोक्ष—बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग के दूर हो जाने पर तथा पूर्व बाँधे कर्म की निर्जरा हो जाने पर सर्व कर्मों से छूट जाना व अपने आत्मीक शुद्ध स्वभाव का प्राप्त कर लेना, यह सादि अनन्त जीव की अवस्था है।

अरहन्त—पूजने योग्य, अर्ह धातु पूजा में है तथा अ से प्रयोजन अरि शत्रु मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म र से तात्पर्य रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण उसको हन्त—नाश करने वाले इस प्रकार अरहन्त का अर्थ हुआ चार घातिया कर्मों का नाश करने वाले।

हिंसा—प्रमाद सहित (कषाय युक्त) मन वचन काय के द्वारा द्रव्य व भाव प्राणों को कष्ट देना व उनका घात करना। हिंसा दो प्रकार की है—संकल्पी और आरम्भी। आरम्भी के तीन भेद हैं—उद्यमी, गृहारम्भी और विरोधी।

यज्ञ—हवन पूजन युक्त एक वैदिक कृत्य।

होम—ब्राह्मणों द्वारा नित्य किया जाने वाला पंच महायज्ञों में से एक।

वेद—हिन्दुओं के आदि धर्मग्रन्थ (पहिले ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन ही थे, पीछे अथर्ववेद भी मिलाया गया)।

अश्वमेध—एक प्रसिद्ध वैदिक यज्ञ जिसे कोई चक्रवर्ती राजा या सम्राट् ही कर सकता था और जिसमें सभी देशों का भ्रमण कर लौटने वाले घोड़े को मार कर उसकी चर्बी से हवन किया जाता था।

गोमेध—कलियुग के लिये निषिद्ध एक वैदिक यज्ञ जिसमें गोबलि का विधान है।

शूद्र—शिल्प, विद्या व सेवा कार्य से आजीविका करने वाला वर्ण, ऋषभदेव द्वारा स्थापित।

सामवेद—तीसरा वेद।

नीच—जो जाति, गुण, कर्म आदि में घट कर हों।

दसवाँ सर्ग

मोहनीय—आठ मूल कर्मों में चौथा कर्म। इसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। चारित्र मोहनीय के २५ भेद हैं १६ कषाय और ९ नोकषाय।

भाग्य—शुभाशुभ सूचक कर्म जन्य अदृष्ट।

विवाह—दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होने की एक प्रथा जो धर्म-शास्त्र में ८ प्रकार (आर्ष, ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, और पैशाच) की मानी गयी है।

प्रमाद—कषाय के तीव्र उदय से निर्दोष चारित्र पालन में उत्साह का न होना व अपने आत्म-स्वरूप की सावधानी न होना। इसके १५ भेद हैं।

इक्कीसवाँ सर्ग

सप्तव्यसन—जुवा, माँस, मदिरा, चोरी, शिकार, वेश्या और परस्त्री इन सात बातों का शौक रखना।

अष्ट मूल गुण—गृहस्थ श्रावक के पालने योग्य आचरण, जिसे उसे नित्य पालना चाहिये। मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, संकल्पी हिंसा त्याग, स्थूल झूठ त्याग, स्थूल चोरी त्याग' स्व स्त्री संतोष और परिग्रह का परिमाण।

त्याग—धर्मदान करना। आहार, औषधि, अभय व ज्ञान-दान धर्मात्मा पात्रों को भक्ति पूर्वक व अपात्रों को करुणा दान से देना।

एकादश प्रतिमा—पाँचवें गुण स्थान में ११ श्रेणियाँ होतीं हैं—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्र०, सामायिक प्र०, प्रोषधोपवास प्र०, सचित्त विरति प्र०, रात्रि भुक्ति त्याग प्र०, ब्रह्मचर्य प्र०, आरम्भ त्याग प्र०, परि-ग्रह त्याग प्र०, अनुमति त्याग प्र० और उद्दिष्ट त्याग प्र०।

सम्यक्त्वी—सम्यग्दर्शन धारी मानव में ४८ मूल गुण व १५ उत्तर गुण होते हैं। २५ मल दोष रहित पना + ८ संवेगादि लक्षण + ७ भय रहित पना + ३ शल्य रहित पना + ५ अतिचार रहित पना = ४८।७ व्यसन त्याग + ५ उदम्बर फल त्याग + ३ मदिरा, मांस, मधु (मकार) त्याग = १५ उत्तर गुण।

बाईसवाँ सर्ग

अनगार—मुनि, गृह आदि परिग्रह रहित साधु, जिसके गृह सम्बन्धी तृष्णा चली गयी हो। अनगार के पर्यायवाची ये १० शब्द हैं—

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त और यति।

काल लब्धि—किसी कार्य के होने के समय की प्राप्ति। सम्यग्दर्शन के लिये अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल मोक्ष जाने में शेष रहना काल लब्धि है। इससे अधिक काल जिसके लिये संसार होगा उसे सम्यक्त्तव न होगा।

महाव्रती—महाव्रतों को पालने वाले साधु, २८ मूलगुणधारी।

तेईसवाँ सर्ग

रक्षा बन्धन—सलूनो या सलोनो नाम का त्योहार, जो श्रावणी पूर्णिमा को होता है, (इस अवसर पर बहिनें अपने भाइयों को और पुरोहित अपने यजमानों की कलाई में कपास या रेशम का अभिमन्त्रित रक्षा सूत्र बाँधते हैं)।

स्वाति—२७ नक्षत्रों में से १५वाँ जो शुभ माना गया है। कवि-समय के अनुसार चातक इसमें ही होने वाली वर्षा का जल पीता है और वही जल सीप के सम्पुट में पहुँच कर मोती और बाँस में वंशलोचन बनता है।

अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार मुख्य गुण केवली अरहन्त परमात्मा के प्रगट होते हैं।

वायु कुमार—भवनवासी देवों का दसवाँ भेद, इनके इन्द्र वेलम्ब व प्रभञ्जन हैं। इनके ९६ लाख भवन हैं, हर एक में अकृत्रिम-जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट आयु १॥ पल्य जघन्य १०००० वर्ष है। इनके मुकुटों में घोड़े का आकार है।

जम्बू स्वामी—राजगृही के श्रेष्ठि कुमार, राजा श्रेणिक के समय में श्री सुधर्माचार्य के शिष्य हो मुनि हुये। तप कर अन्तिम केवली हो मोक्ष पधारे, यह प्रसिद्ध है। इनका मोक्ष स्थान मथुरा चौरासी है।

केवली—अरहन्त भगवान १३वें व १४वें गुण स्थानवर्ती, छः मास आठ समय में संयोग केवली कुल ८ लाख ६८ हजार ५ सौ २ (८६८५०२) एकत्र हो सकते हैं।

श्रुत केवली—द्वादशांग जिन वाणी के पूर्ण ज्ञाता, भरत में इस पंचम काल में श्री जम्बू स्वामी के मोक्ष जाने पर १०० वर्ष में पाँच श्रुत केवली हुये। विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु।

चन्द्रगुप्त—मौर्य वंश का प्रथम सम्राट् जो सिकन्दर का समकालिक था।

अनेकान्त—अनेक अन्त या धर्म या स्वभाव जिसमें पाये जायें ऐसे पदार्थ। अनेक धर्मों वाले पदार्थों को कहने वाली व भिन्न अपेक्षा से बताने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी। यही परमागम का बीज है अर्थात् इसके समझने से परस्पर विरोध का अवकाश नहीं रहता है।

एकादश अंग—जिन वाणी के १२ अंगों में पहिले ११ अंग आचाराङ्ग, सूत्र कृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अङ्ग, ज्ञातृधर्म कथा अङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपादिक दशाङ्ग, प्रश्न व्याकरण विपाक सूत्र।

पूर्व—द्वादशांग वाणी में दृष्टिवाद बारहवें अंग का एक भाग। इसके १४ भेद हैं।

पुष्पदन्त—श्री धरषेणाचार्य के शिष्य जिनको धवलादि का मूल पाठ सिद्धान्त पढ़ाया फिर जिन्होंने भूतबलि के साथ रचना की।

भूतबलि—श्री धरषेणाचार्य के शिष्य, धवलादि ग्रन्थों के मूल कर्त्ता।

परिशिष्ट संख्या २

(विहार स्थल नाम कोष)

विहार स्थल संख्या ६२

चौदहवाँ सर्ग

कमरि ग्राम—यह गाँव क्षत्रिय कुण्ड के निकट था, यह निश्चित है।

कोल्लाग—यह सन्निवेश वाणिज्य ग्राम के समीप था।

मोराक—यह ग्राम वैशाली के आस पास था।

अस्थिक—यह विदेह जनपद में स्थित था, इसके समीप वेगवती नदी बहती थी।

वाचाला—यह नगर श्वेताम्बी के निकट था।

सेयंविया (श्वेताम्बिका)—बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती जाते समय श्वेताम्बिका बीच में आती थी। जैन सूत्रों के लेखों से भी श्वेताम्बी श्रावस्ती से पूर्वोत्तर में अवस्थित थी। आधुनिक उत्तर पश्चिम बिहार के मोतीहारी शहर से पूर्व लगभग ३५ मील पर अवस्थित सीतामढ़ी यह श्वेताम्बिका का ही अपभ्रंश नाम है, ऐसा अनुमान है।

सुरभिपुर—विदेह से मगध जाते हुये मध्य में पड़ता था और गंगा के उत्तर तट पर स्थित था। संभव है यह विदेह भूमि की दक्षिणी सीमा का अन्तिम स्थान हो।

थूणाक—यह सन्निवेश गंगा के दक्षिण तट पर था।

पन्द्रहवाँ सर्ग

राजगृही—आज कल 'राजगृह' 'राजगिर' नाम से पहिचाना जाता है, जिसके पास सोहागिरि पर्वतमाला के पाँच पर्वत हैं, जैन

सूत्रों में वैभारगिरि, विपुलाचल आदि नामों से उल्लिखित हैं। राजगिर बिहार प्रान्त में पटना से पूर्व दक्षिण और गया से पूर्वोत्तर में अवस्थित है।

नालन्दा—राजगृह का एक उपनगर, जहाँ पर अनेक धनाढ्यों का निवास था और अनेक कारखाने चलते थे। आजकल के राजगिर से उत्तर में ७ मील पर अवस्थित 'बड़गाँव' नामक स्थान ही प्राचीन नालन्दा है।

ब्राह्मण ग्राम—इस ग्राम के दो पाटक थे, एक नन्द पाटक, दूसरा उपनन्द पाटक। ब्राह्मण ग्राम 'सुवर्णखल' और 'चम्पा' के बीच में पड़ता था।

चम्पा—जैन सूत्रों में चम्पा को अंग देश की राजधानी माना है, कोणिक ने जब से अपनी राजधानी बनायी तब से चम्पा अंग (मगध) की राजधानी कहलायी। पटना से पूर्व में (कुछ दक्षिण में) लगभग सौ कोस पर चम्पा थी।

कालाय—यह सन्निवेश चम्पा के निकट कहीं होना चाहिये।

पत्तकालय—चम्पा के पास कहीं था।

कुमारा—यह सन्निवेश सम्भवतः अङ्ग देश के पृष्ठ चम्पा के निकट था।

चोराक—यह स्थान संभवतः प्राचीन अङ्ग जनपद और आधुनिक पूर्व बिहार में कहीं रहा होगा।

पृष्ठ चम्पा—चम्पा से पश्चिम में थी, राजगृह से चम्पा जाते हुये पृष्ठ चम्पा लगभग बीच में पड़ती थी।

कर्यं (कचंगला)—यह स्थान यदि अङ्ग देश में ही चम्पा से पूर्व की ओर हो तब तो आज कल का कंकजोल हो सकता है। परन्तु जैन सूत्रों के अनुसार कचंगला नगरी श्रावस्ती के समीप थी।

श्रावस्ती—जैन सूत्रोक्त साढ़े पच्चीस आर्य देशों में कुणाल-नामक देश की राजधानी का नाम श्रावस्ती लिखा है। महावीर के समय में श्रावस्ती उत्तर कोशल की राजधानी थी। गोंडा जिले में अकौना से पूर्व पाँच मील और बलरामपुर से पश्चिम बारह मील राप्ती नदी के दक्षिण तट पर सहेठ महेठ नाम से प्रख्यात जो स्थान है वही प्राचीन श्रावस्ती का अवशेष है, ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है।

हलिद्दुग ग्राम—यह ग्राम श्रावस्ती से पूर्व परिसर में था।

नंगला—श्रावस्ती से राठ की ओर जाते हुये बीच में पड़ता था, संभवतः यह ग्राम कोशल भूमि के पूर्व प्रदेश में ही रहा होगा।

आवत्ता ग्राम—यह ग्राम कहाँ था! यह बताना कठिन है, अनुमान होता है कि कदाचित यह कोशल जनपद का ही कोई ग्राम होगा जो पूर्व की ओर जाते हुये मार्ग में पड़ता था।

कलंबुका—यह अङ्गदेश के पूर्व प्रदेश में कहीं रहा होगा।

आर्य भूमि—जैन सूत्रों में भारतवर्ष में अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध काशी, कौशल, विदेह, वत्स, मत्स्य आदि साढ़े पच्चीस देश आर्य माने गये हैं और शेष अनार्य। पूर्व में ताम्रलिप्ती, उत्तर में श्रावस्ती, दक्षिण में कौशाम्बी और पश्चिम में सिन्धुतक आर्य भूमि मानी गयी है।

अनार्य देश—यह अनार्य भूमि पश्चिम बंगाल की राढ़ भूमि और वीर भोम आदि संथाल प्रदेश समझना चाहिये।

राढ़— मुर्शिदाबाद के आस पास का पश्चिमी बंगाल पहिले राढ़ कहलाता था जिसकी राजधानी कोटी वर्ष नगर था। जैन सूत्रों में राढ़ की गणना साढ़े पच्चीस आर्य देशों में की गयी है।

कयलिग्राम--कयलि समागम मगध के दक्षिण प्रदेश मलय भूमि में कहीं होगा।

जम्बू संड—यह ग्राम मलय देश में अथवा दक्षिण मगध में कहीं रहा होगा।

तंबाय (ताम्राक)—यह सन्निवेश संभवतः मगध में कहीं था।

कूपिय (कूपिक)—यह सन्निवेश वैशाली से पूर्व में विदेह भूमि में कहीं था।

वैशाली—मुजफ्फर पुर जिला में जहाँ आज बसाढ़ पट्टी ग्राम है, वहीं पहिले महावीर के समय की विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी थी, यह जैन धर्म के केन्द्रों में से एक थी। यह चम्पा से वायव्य दिशा में साढ़े बारह मील और राजगृह से लगभग उत्तर में ७० मील की दूरी पर थी।

ग्रामाक—यह सन्निवेश वैशाली और शालिशीर्ष नगर के बीच में पड़ता था।

शालिशीर्ष—ह स्थान वैशाली और भद्रिका के बीच में कहीं था। संभवतः अंगभूमि की वायव्य सीमा पर रहा होगा।

भद्दिया—भागलपुर से दक्षिण में आठ मील पर अवस्थित भदरिया स्थान ही प्राचीन भद्दिया अथवा भद्रिका नगरी होना चाहिये। यह अंग देश की एक प्रसिद्ध तत्कालीन नगरी थी।

मगध—यह देश महावीर के समय का एक प्रसिद्ध देश था, मगध की राजधानी राजगृही महावीर के प्रचार क्षेत्रों में प्रथम और वर्षावास का मुख्य केन्द्र थी। पटना और गया जिले पूरे एवं हजारी बाग का कुछ भाग प्राचीन मगध के अन्तर्गत थे।

आलंभिया—काशी राष्ट्रान्तर्गत एक प्रसिद्ध नगरी थी। यह राजगृह से बनारस जाने वाले मार्ग पर अवस्थित थी। इसके तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था।

कुन्डाक—यह सन्निवेश काशी राष्ट्र के पूर्व प्रदेश में आलंभिया के पास होना चाहिये।

मद्दना—यह सन्निवेश कहाँ था ? यह बताना कठिन है।

बहुसाल—यह ग्राम मद्दना ग्राम और लोहार्गला राजधानी के बीच में पड़ता था।

लोहार्गला—यह जानना कठिन है कि लोहार्गला किस देश में कहाँ थी ? इससे मिलते जुलते नाम वाले तीन स्थान हैं (१) हिमालय का लोहार्गल (२) पुष्कर–सामोद के पास वैष्णवों का प्राचीन तीर्थ लोहार्गल (३) शाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा में प्राचीन शहर 'लोहरडगा'।

पुरिमताल—प्रयाग का ही प्राचीन नाम पुरिमताल था, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। जैन सूत्रों के अनुसार पुरिमताल अयोध्या का शाखा नगर था। कुछ भी हो पुरिमताल एक प्राचीन नगर था यह तो निर्विवाद है।

सोलहवाँ सर्ग

सिद्धार्थपुर—संभवतः उड़ीसा में कहीं रहा होगा।

कूर्मग्राम—यह ग्राम पूर्वीय बिहार में कहीं होना चाहिये क्योंकि वीरभोम से सिद्धार्थपुर होते हुये महावीर यहाँ आये थे।

वाणिज्य ग्राम—यह नगर वैशाली के पास गंडकी नदी के तट पर अवस्थित एक समृद्ध व्यापारिक मण्डी थी। आधुनिक बसाड़ पट्टी के पास वाला बज्जिया ग्राम ही प्राचीन वाणिज्य ग्राम हो सकता है।

सानुलट्ठिय—अर्थात् सानुयष्टिक, ग्राम कहाँ था? यह बताना कठिन है, पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थान का दृढ़-भूमि में होना सम्भव है जो प्राचीन कलिंग के पश्चिमीय अञ्चल में थी।

दृढ़भूमि—यहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी, यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

सुभोग—यह ग्राम कलिंग भूमि में था।

सुच्छेत्ता—यह स्थान सम्भवतः अंगदेश की भूमि में था।

मलय—यह ग्राम उड़ीसा के उत्तरी पश्चिमी भाग में अथवा गोंडवाना में होने की सम्भावना है।

हत्थिसीस—(हस्तिशीर्ष) यह ग्राम संभवतः उड़ीसा के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कहीं था।

तोसलि ग्राम—गोंडवाना प्रदेश में था, मौर्यकाल में गंगुआ और दया नदी के संगम के मध्य में तोसली एक बड़ा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलि ग्राम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

व्रज ग्राम—इसका दूसरा नाम गोकुल था। यह गोकुल उड़ीसा में या दक्षिण कोसल में होना संभव है।

कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले के मानजहानपुर तहसील में यमुना नदी के बांये किनारे पर जहानपुर से दक्षिण में १२ मील और इलाहाबाद से दक्षिण पश्चिम में इकतीस मील पर कोसम इनाम और कोसम इखिराज नामक दो ग्राम हैं। ये ही प्राचीन कौशाम्बी के अवशेष हैं।

वाराणसी—का अपभ्रंश बनारस है, पहिले यहाँ वरणा तथा असि नदी के संगम पर बसी हुई वाराणसी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी जो काशी राष्ट्र की राजधानी थी। भगवान महावीर के मुख्य क्षेत्रों में से यह भी एक थी।

मिथिला—शब्द से इस नाम की नगरी और इसके आस पास का प्रदेश दोनों अर्थ प्रकट करते हैं, यह एक समृद्ध नगरी थी। सीता मढ़ी के पास मुहिला नामक स्थान ही प्राचीन मिथिला का अपभ्रंश है। वैशाली से मिथिला उत्तर पूर्व में ४८ मील पर अवस्थित थी।

सत्रहवाँ सर्ग

सूसुमार—मिर्जापुर जिला में वर्तमान चुनार के निकट एक पहाड़ी नगर था, कई विद्वान् सूसुमार को भर्ग देश की राजधानी बताते हैं।

भोगपुर—भोगपुर का नाम सूसुमार है और नन्दी ग्राम के बीच में आता है, संभवतः यह स्थान कौशल भूमि में था।

मेंढिय गाँव—यह ग्राम श्रावस्ती के निकट कौशाम्बी के मार्ग में था।

सुमंगला—यह ग्राम कहाँ था। यह बताना कठिन है। संभव है यह स्थान अङ्ग भूमि में कहीं रहा होगा।

पालक—यह ग्राम चम्पा के निकट कौशाम्बी की दिशा में था।

जंभियग्राम—इसकी वर्तमान अवस्थिति पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कवि परम्परा के अनुसार सम्मेद शिखर के दक्षिण में बारह कोस पर जो जंभी गाँव है वही प्राचीन जंभिय ग्राम है। कोई सम्मेद शिखर से दक्षिण पूर्व लगभग पचास मील पर आजीनदी के पास वाले जय ग्राम को प्राचीन जंभिय ग्राम बताते हैं।

मिंढिय—यह ग्राम अङ्ग जनपद में चम्पा से मध्यमा पावा जाते हुये मार्ग में पड़ता था।

छम्माणि—यह ग्राम मध्यमा पावा के निकट चम्पा नगरी के मार्ग पर कहीं था।

मध्यमा—पावा मध्यमा का कहीं कहीं इस नाम से भी उल्लेख है। यह मगध जनपद में थी, आज भी यह विहार नगर से तीन कोस पर दक्षिण में है, जैनों का तीर्थ क्षेत्र बना हुआ है।

ऋजुकूला—हजारी बाग जिला में गिरीडीह के पास बहने वाली बाराकड़ नदी को ऋजुकूला ऋजुपालिका अथवा रिजुवालका कहते हैं। विहार वर्णन से ज्ञात होता है कि जंभिय ग्राम और ऋजुकूला नदी मध्यमा के रास्ते में चम्पा के निकट ही कहीं होना चाहिये।

बीसवाँ सर्ग

विपुलाचल—राजगृह के पाँच पहाड़ों में से एक का नाम विपुल

सहायक साहित्य

(१) श्री उत्तर पुराण—श्रीमद् गुणभद्राचार्य विरचित एवं पं० लाला राम जी जैन द्वारा अनूदित।

(२) वर्द्धमान—श्री अनूप शर्मा।

(३) श्री वर्धमान महावीर—श्री दिगम्बर दास जी जैन।

(४) श्रमण भगवान महावीर—पुरातत्ववेत्ता श्री पं० कल्याण विजय जी गणीकृत।

(५) भगवान महावीर—श्री कामता प्रसाद जी जैन।

(६) महावीर चरित्र—श्रीअशग कवि कृत।

(७) चार तीर्थंकर—श्री पं० सुख लाल जी संघवी।

(८) तीर्थंकर भगवान महावीर—श्री वीरेन्द्र प्रसाद जी जैन।

(९) महावीर वर्धमान—श्री जगदीशचन्द्र जी जैन एम० ए० पी-च० डी०।

÷ = ÷